संपादक
संजय सहाय
विशेष सहयोग
इब्बार रब्बी
प्रबंध निदेशक
रचना यादव
कार्यालय व्यवस्थापक
वीना उनियाल
प्रसार एवं लेखा प्रबंधक
हारिस महमूद
शब्द-संयोजन
सुभाष कश्यप
कार्यालय सहायक
किशन कुमार, दुर्गा प्रसाद
मुख्य विज्ञापन प्रतिनिधि (उ.प्र.)
राजेन्द्र प्रसाद जायसवाल
रेखाचित्र
अनुभूति गुप्ता
देव कुमारी कौशिक

कार्यालय
अक्षर प्रकाशन प्रा. लि.
2/36, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-2
संजय सहाय : 8800229316
दूरभाष : 011-41050047, 23270377
ईमेल : editorhans@gmail.com
वेबसाइट : www.hanshindimagazine.in

मूल्य : 40 रुपए, वार्षिक : 400 रुपए
संस्था और पुस्तकालय : 600 रुपए
आजीवन : 10,000 रुपए
विदेशों में : 70 डॉलर
सारे भुगतान मनीऑर्डर/चैक/बैंक ड्राफ्ट द्वारा अक्षर प्रकाशन प्रा. लि. (Akshar Prakashan Pvt. Ltd.) के नाम से किए जाएं.

हंस/अक्षर प्रकाशन प्रा. लि. से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे. अंक में प्रकाशित सामग्री के पुनर्प्रकाशन के लिए लिखित अनुमति अनिवार्य है. हंस में प्रकाशित रचनाओं में विचार लेखकों के अपने हैं उनसे हंस की सहमति अनिवार्य नहीं है. साथ ही उनके मौलिक या अप्रकाशित होने का उत्तरदायित्व भी संपादक और प्रकाशक का नहीं है.

प्रकाशक-मुद्रक : **रचना यादव खन्ना** द्वारा अक्षर प्रकाशन प्रा. लि., 2/36, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 के लिए प्रकाशित तथा एम.पी. प्रिंटर्स (प्रो. भास्कर इंडस्ट्रीज लि.) बी-220, फेज-II नोएडा (उ.प्र.) से मुद्रित. संपादक–संजय सहाय

'केंद्रीय हिंदी संस्थान', आगरा से सहयोग प्राप्त

मूल संस्थापक : **प्रेमचंद : 1930**
पुनर्संस्थापक : **राजेन्द्र यादव : 1986**

पूर्णांक-402 वर्षः34 अंकः9 अप्रैल 2020

आवरण : दिनेश खन्ना

हंस

जनचेतना का प्रगतिशील कथा-मासिक

इस अंक में

संपादकीय
4. खौफ की गिरफ्त में : संजय सहाय

अपना मोर्चा
6.पत्र

मुड़-मुड़ के देख
9. खुशबू (कहानी) : भीष्म साहनी

न हन्यते
14. गिरिराज किशोर : स्मृतियां और अवदान : रवीन्द्र त्रिपाठी
17. मौत के पार होना जीवन का : अल्पना मिश्र
20. मुकम्मल प्रेम की अधूरी कहानी : गीताश्री

कहानियां
23. बेसमेंट : संतोष दीक्षित
34. ये सुगबुगाहटें : प्रतिभा
49. ये प्यार, वो प्यार और तन्हाइयां : शिल्पा शर्मा
59. भय के पाश... : श्रीधर करुणानिधि
66. राम को जन्मभूमि मिलनी चाहिए : प्रीति प्रकाश
72. नर-नारी : इंतिज़ार हुसैन (उर्दू कहानी) (अनुवाद : खुर्शीद आलम)

कविता
28-29. यतीश कुमार, प्रकृति करगेती
58. पुरु मालव

लेख
30. अंबेडकर : मूर्ति या विचार? : प्रह्लाद चंद्र दास

कथेतर
44. जिनसे अंधेरी रातों में जल जाते थे दीये : पल्लव

आराम नगर
64. प्रकृति बनाम मनुष्य : मिहिर पंड्या

बीच बहस में
56. दलित विशेषांक 2019 : एक मुआयना : मुसाफिर बैठा

घुसपैठिये
70. प्रेम : नंदिनी सिंह

लघुकथा
19. विरेंद्र कुमार मेहता, 33. शशि श्रीवास्तव, 77. नंद कौर छाबड़ा, 83. सुकेश साहनी 91. रंजना फतेपुरकर

ग़ज़ल
81. सूबे सिंह 'सुजान', विनोद कुमार
89. रामवीर

परख
76. इतिहास और भूगोल का रोचक सम्मिश्रण : ममता कालिया
78. प्रत्यंचा से खुलता ओझल इतिहास : रामकुमार कृषक
82. रागों की अनकही कहानी : शंकर कुमार झा
84. महा-अभियान की महागाथा : विनोद वार्ष्णेय
87. मानवीय संवेदनाओं की त्रासदी का दस्तावेज : मीना बुद्धिराजा
90. अनूठी रचनात्मक उपलब्धि : असीम अग्रवाल

शब्दवेधी/शब्दभेदी
92. थप्पड़ : तसलीमा नसरीन

रेतघड़ी
94-96

ख़ौफ़ की गिरफ्त में

पूरी दुनिया कोविड-19 उर्फ कोरोना की चपेट में है. चीन के वुहान प्रदेश से फैली इस महामारी ने संसार को सांसत में डाल दिया है. लाखों लोग संक्रमित हैं और हजारों जान गंवा चुके हैं. एक से दो, दो से चार, चार से आठ की तालिका में महीने भर में यह रोग करोड़ो में फैलने की क्षमता रखता है. संभवतः अपनी आक्रामकता में यह बीमारी ब्युबोनिक प्लेग जिसे मध्यकालीन यूरोप में ब्लैक डेथ के नाम से जाना जाता था, से भी कई गुना अधिक खतरनाक है. अमेरिका जैसा अत्याधुनिक देश भी इसकी गिरफ्त में है. वहां रह रहे कुछ परिजनों से बात करके पता चला कि उन सबके आसपास अनेक लोग इस वायरस से संक्रमित मिले हैं, जिनमें से कुछ की मौत भी हो चुकी है. भारत जैसे देश के लिए जहां की अर्थव्यवस्था पहले से ही चरमराई हुई है, वहां ऐसी महामारी का प्रकोप विनाशकारी साबित होगा. विपक्ष इस संभावित त्सुनामी से सरकार को सावधान कर रहा है. बाकी रब की मर्जी! भारत में आंकड़ों की विश्वसनीयता हमेशा संदिग्ध रही है और आज भी इसकी संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता है.

गोमूत्र और गोबर का व्यापार जोरों पर है. भक्त इसमें सिर घुसाए खुद को अभेद्य और अजेय महसूस कर रहे हैं. उधर संभवतः 'ओवर ईटिंग' की वजह से गोमूत्र और गोबर के सामूहिक भोज के बाद लोगों के बीमार पड़ने की सूचनाएं भी आ रही हैं. तीसरी दुनिया में रह रहे मुसलमानों का भी कुछ ऐसा ही हाल है जो नमाज को हर मर्ज की दवा मान रहे हैं. महानगरों को छोड़ दें तो गांव-कस्बों में ऐसा कोई भी आधारभूत ढांचा हम आज तक विकसित नहीं कर पाए हैं जिससे ऐसी आपातस्थिति का सामना किया जा सके. महानगरों में भी स्थिति कोई बहुत अच्छी नहीं दिखती. यूरोप से लौट रहे भारतीय नागरिकों को भयानक बदइंतजामी और बदहाली का सामना करना पड़ रहा है.

स्कूल-कॉलेज, सिनेमाघर, बाजार हर जगह लॉक डाउन हो चुका है. प्रधान के भाषण के बावजूद कि सब्जी-किराना की दुकानें और आवश्यक सेवाएं बंद नहीं होंगी, 19 मार्च को ही दिल्ली के वसंत विहार इलाके में पुलिस ने दुकानों को जबरन बंद किया और सब्जी के ठेले वालों को डंडे से हांक दिया. यह दुर्भाग्यपूर्ण है. अगर यहां पुलिस और ऐसे नियमों को नियंत्रित नहीं किया गया तो न केवल दिल्ली में अकाल की स्थिति पैदा हो जाएगी बल्कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था भी पूरी तरह से चौपट हो जाएगी. देश को संबोधित करते हुए प्रधान ने 22 तारीख को जनता कर्फ्यू की घोषणा की मानों 22 के पहले या 22 के बाद में कोरोना वायरस बेअसर हो जाएगा. इस विभीषिका में ऐसे दिखावटी टोटकों का औचित्य समझ में नहीं आया.

इस वैश्विक संकट से निपटने का हमारे पास कोई उपाय नहीं है सिवाय इसके कि हम प्रार्थना करें कि चीन, जापान या अमेरिका इसका उपचार खोजकर मानवता के नाते हमारी झोली में डाल देंगे. या फिर बढ़ते पारे के साथ यह वायरस खुद ब खुद नष्ट हो जाएगा या म्यूटेट कर अपनी घातकता खो देगा. बहरहाल, क्या होगा—यह तो समय ही तय करेगा. देखना यह है कि साल भर बाद देश में क्या कुछ बचता है. क्या नष्ट हो जाता है. कितने वित्तीय संस्थान येस बैंक का रास्ता धर लेते हैं, कितने बने रहते हैं. कितने लोग जिंदा रहते हैं और कितने खो जाते हैं. खासकर साठ से ऊपर वालों के लिए यह महामारी विशेष रूप से जानलेवा साबित हो रही है.

खैर, सलाम शाहीनबाग की आंदोलनकारियों को जो निडर और निर्भीक भाव से सी.ए.ए. के विरोध में डटी हुई है! अपने अनेक साथियों की तरह ही उनसे हमारा अनुरोध है कि हालात को देखते हुए इस वक्त अपने विरोध को स्थगित कर दें और जब समय उपयुक्त हो जाए तब संविधान की आत्मा को सुरक्षित रखने की लड़ाई में नए उत्साह से वापस लौटे.

•

एक परीकथा

एक व्यापारी राजा जी के दरबार में पहुंचा. झुककर सलामी बजाई और बोला, "उड़न-खटोले बेचता हूं और हुज़ूर की सेवा में हाज़िर हुआ हूं. आपकी इजाजत से सौदा करने आया हूं." राजा ने कहा, "तुझे इजाजत तो दे दूं पर हमारे अज़ीज़ दिवालिया होते मुन्ना भाई का ख्याल कौन रखेगा? व्यापारी ने अदब से कहा. "हुजूर, उनका ख्याल तो आप लोग अपने कट में से ही रखें." राजा आग बबूला हो उठा. "अबे, तू हमें बेईमान कहता है? कमीशनखोर कहता है? तेरी यह जुर्रत..! कमीशनखोर होगा तेरा बाप! यह सब तो हमसे पहले वाले करते थे...लगता है तू उनका एजेंट है!" व्यापारी ने राजा के पैर धर लिए. तब राजा धीरे से फुसफुसाया. "देख, हम मल को छूकर हाथ गंदे नहीं करते. इसीलिए तो मुन्ना भाई को रखा है. अपना मल भी छूते हैं और हमारा मल भी वही छूते हैं. और इसीलिए हम सभी को मुन्ना भाई का ख्याल रखना होगा. कौनसा हमें अपनी जेब से देना है! चल भाग, अब भेजा मत खा!" डील हो गई. मुन्ना भाई का 1200 करोड़ का कर भी माफ हुआ. मुन्ना भाई के खाते में हजारों करोड़ का वादा हो गया. अब तक सात प्रतिशत खाते आए विपक्ष की पूंछ सुलग गई. लेकिन चूंकि उन सबकी नाजुक नसें राजा की जकड़ में थीं और फिर उनके पास अपने एक जमाई राजा भी तो थे सो किकिया-कुंकियाकर चुप रह गए. अलबत्ता कुछ अखबार नवीसों ने जिन्हें ईमानदारी के पिस्सू ने काट कर संक्रमित कर दिया था, उन्हें यह बात नागवार गुजरी और कतिपय संदिग्ध चरित्रों के साथ मिलकर वे इस मामले को ठेलते-ठेलते न्याय की देवी के सामने पटक आए.

दंडपाल राजा का पालतू था. वह फाइलें मंगवाता रहा, मंगवाता रहा, मंगवाता रहा..इस बीच एक दिन अवकाश प्राप्त कर खिसक लिया. जो नया दंडपाल आया, उस पर लोगों का अटूट भरोसा था. चूंकि वह कहा करता था. "रिटायरमेंट के बाद जजों द्वारा कोई पद लेना न्यायपालिका की स्वतंत्रता के विचार पर बदनुमा दाग है." (तालियां!!!) दंडनायक बनने से पहले, उसने इतनी क्रांतिकारी बातें की थीं कि क्रांति की जंघाएं और नितंब जोरों से फड़कने लगे थे—इतनी जोर से कि क्रांति की चड्ढी तक चर्रऽऽऽ से फट गई थी. लेकिन मितरो! शेक्सपियर ने बहुत पहले ही छींक दिया था कि हर चमकने वाली चीज सोना नहीं होती कि जो दिखता है वह बिलकुल जरूरी नहीं कि वैसा ही हो.

उड़न-खटोले से संबंधित सभी अर्जियां खारिज हो गईं. मुन्ना भाई के मटियामेट शेयरों में उछाल आ गया. उसने राहत की सांस भरी और सट्टा बाजार में अच्छाखासा मुनाफा भी कमा लिया. फिर तो जैसे क्रांतिकारी फैसलों की झड़ी लग गई—ए.के. सैंतालिस की गोलियों की तरह—तड़-तड़-तड़-तड़! राम जी की पैदाइश हो, या धारा 370, बंद-नजरबंद लोगों का मामला हो, या एन.आर.सी. का चक्कर.

अब पता नहीं न्याय की देवी की चेरी से उलझे मामले की वजह से या अन्यान्य कारणों के कारण दंडनायक ने गिरगिट की तरह रंग बदल लिया था और वह पिल्लू पड़ी सार्डीनियाई पनीर-काज़ू-मार्दज़ू की तरह सड़ांध मारने लगा था.

सारे मामले रफा-दफा हो गए. राजा ने ढोल बजाया. मुन्ना भाई ने कमर लचकाई. और दूसरे लंबित मामलों पर राजा की कृपा पाने हेतु हांफते हुए उनकी अगाड़ी-पिछाड़ी सूंघने लगा. जब दंडनायक की अवकाश प्राप्ति का समय आया तो उसे उसकी वफादारी के लिए इंद्र सभा में राजा के सिंहासन के नीचे एक तिपाई दे दी गई जिस पर वह चौपाए की तरह लपककर चढ़ बैठा. राजा के सिर के ऊपर बैठने वाले को राजा के चरणों में जगह मिलीं. भक्तों ने स्तुति गान गाया.

अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ. भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ.
कहौं कहां लगि नाम बड़ाई. नरेंद्र न सकहिं नाम गुन गाई.

राम राज्य फलीभूत हुआ!

•

लगभग सात साल चार महीने बाद निर्भया के मुज़रिमों को 20 मार्च को फांसी पर लटका दिया गया. एक पीड़ादायक अध्याय की इति हुई. निर्भया को न्याय मिला यह कहना पूरी तरह से उचित नहीं लगता. निर्भया की जिंदगी को वापस नहीं लाया जा सकता. न ही उसके साथ हुई बर्बरता के समतुल्य सजा ही गुनाहगारों को दी जा सकती है. यह सही है कि न्याय की प्रक्रिया पूरी होने में बहुत विलंब हुआ किंतु इस वजह से न्यायिक प्रक्रिया को ही त्याग देना सिवाय एक अराजक व्यवस्था कायम करने के और कुछ भी नहीं करेगा. जिन लोगों ने यह लंबी लड़ाई लड़ी उनके प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए...

•

प्रेम भारद्वाज का आकस्मिक निधन हिंदी साहित्य जगत और साहित्यिक पत्रकारिता के लिए एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना है. उन्हें हमारी श्रद्धांजलि.

अपना मोर्चा

रत्नकुमार सांभरिया आत्ममुग्ध लेखक हैं

'हंस' 2020 मार्च के अपना मोर्चा स्तंभ में रत्नकुमार सांभरिया का पत्र पूरी तरह उनकी आत्ममुग्धता और आत्मप्रशंसा से भरा हुआ है. किसी भी लेखक का मूल्यांकन उसकी किताबों की संख्या से नहीं, बल्कि गुण और वैचारिकी से होता है. इस दृष्टि से रत्नकुमार सांभरिया, न गुण और न वैचारिकी, किसी भी आधार पर दलित लेखक साबित नहीं होते. उन्होंने स्वयं भी कभी अपने आप को दलित लेखक नहीं कहा, बल्कि दलित साहित्य और दलित वैचारिकी का सबसे मुखर विरोध उन्होंने ही किया, जिसके प्रमाण मैं दलित साहित्य विशेषांक खंड-1 में अपने लेख में दे चुका हूं. मैं उनके पत्र पर ध्यान भी नहीं देना चाहता था पर चूंकि कुछ अनर्गल आरोप उन्होंने मुझ पर लगाए हैं, इसलिए जवाब देना मेरे लिए जरूरी हो जाता है.

वह कहते हैं कि मैंने उन्हें दूसरी पीढ़ी का दलित लेखक सिद्ध करने का दुस्साहस किया है. मैं समझता हूं कि रत्नकुमार सांभरिया दृष्टिदोष के भी शिकार हैं. मेरे लेख में दलित कहानी के विकास पर चर्चा की गई है, जिनमें उनका नाम यथोचित स्थान पर है. इस विकास में मैंने उनकी वैचारिकी को भी स्पष्ट किया है और यह दर्शाया है कि वह दलित शब्द, दलित चेतना और दलित साहित्य के विरोधी हैं, तथा उसे ब्राह्मणवादी कहते हैं. फिर जब वह अपने आप को दलित लेखक मानते ही नहीं, तो उन्हें क्या फर्क पड़ता है कि वह पहली पीढ़ी के हैं या दूसरी पीढ़ी के?

पता नहीं, रत्नकुमार सांभरिया की यह क्या ग्रंथि है. वह मुझे कहते हैं कि मुझे दलित साहित्य का कालखंड तक मालूम नहीं है. मैं फिर कहता हूं कि वह जब अपने को दलित लेखक मानते ही नहीं हैं, तो उसमें अपने स्थान के लिए चिंतित क्यों हो रहे हैं? मुझे वे दलित साहित्य का इतिहास समझा रहे हैं, जो खुद उसका साक्षी है. मेरे द्वारा 'दलित साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' (1998) का ही अगर वह अवलोकन कर लेते, तो उनकी यह गलतफहमी भी दूर हो जाती कि मुझे दलित साहित्य का कालखंड मालूम नहीं है. हां, यह भी बता दूं कि मेरे इस 'इतिहास' लेख में भी, जिसमें 1997 तक का विवरण दर्ज है, रत्नकुमार सांभरिया कहीं नहीं हैं. किंतु जयप्रकाश कर्दम, श्यौराज सिंह बेचैन, सूरजपाल चौहान, विपिन बिहारी और अजय नावरिया अत्यंत महत्वपूर्ण हस्ताक्षर के रूप में दर्ज हैं. सच तो यह है कि उस समय तक रत्नकुमार सांभरिया को दलित साहित्य के क्षेत्र में कोई जानता भी नहीं था. वह स्वयं कहते हैं कि उनकी पहली कहानी 1998 में हंस में छपी थी.

रही बात रत्नकुमार सांभरिया की तुलना अजय नावरिया से करने की, जिन्हें वह अपने बालकों की उम्र के आसपास बताते हैं, तो मैं इसे अच्छी तरह अपने लेख में स्पष्ट कर चुका हूं. उम्र के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन वही कर सकता है, जिसका दिमाग खिसक गया हो. मूल्यांकन हमेशा साहित्य के आधार पर होता है. दलित कहानी का यह दूसरा दौर चल रहा है. निःसंदेह पहले दौर के नेतृत्व का ताज ओमप्रकाश वाल्मीकि के सर पर है, जिसे कोई कितना ही गाल बजा ले, उतार नहीं सकता. लेकिन इस दूसरे दौर की कहानी के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर अजय नावरिया इसलिए हैं कि उनकी कहानियों में दलित साहित्य के विकास का विजन है, जो रत्नकुमार सांभरिया की कहानियों में नहीं है. वह सिर्फ प्रेमचन्द की तरह आदर्शवादी यूटोपिया गढ़ते हैं, जिसका सामाजिक यथार्थ से कुछ भी लेना-देना नहीं है.

रत्नकुमार सांभरिया पर कितने शोध कार्य हो रहे हैं, यह मायने नहीं रखता. यह सब किसी के मूल्यांकन का आधार नहीं है. जहां तक बहिष्कार की बात है, आप कहो तो ठीक, कोई दूसरा कहे, तो वह असंसदीय हो गया. आपने तो हंस के दलित विशेषांक आने के बाद यह तक कहा है कि दलित साहित्य ब्राह्मणवादी है. यह बहिष्कार की भाषा है या स्वीकार की?

कंवल भारती

मो. : 9412871013

दलित अनुभवों से प्रत्यक्ष साक्षात्कार

हंस के दलित साहित्य विशेषांक में 'बहिष्कृत भारत' शीर्षक से हिंदी दलित आत्मकथा की एक नई उभरती लेखनी के साथ-साथ दलित आत्मकथा की पुरानी पीढ़ी ने भी अपने शेष जीवन क्रम को पुनः शब्दबद्ध किया है. इसी अंक में राजकुमारी की आत्मकथा 'नागपाश' के अंश में विवाह हो जाने के बाद भी उच्च शिक्षा प्राप्ति के लक्ष्य की ओर अग्रसर दूधमुंहे बच्चे की मां का संघर्ष पुरुष के संघर्ष से बड़ा है. राजकुमारी का यह आत्मसंघर्ष अपने परिवार को संभाले हुए उच्च शिक्षा प्राप्त करने की एक नई मिसाल दलित आत्मकथा लेखन में देखने को मिली है. डी.डी. बंसवाल की आत्मकथा 'वसुधैव कुटुंबकम के उदारमना लोग' और उम्मेद गोठवाल की 'संघर्ष ही धर्म' ने अस्पृश्यता और जातिवाद के समीकरणों की भूमिका को सामने लाई है. 'बहिष्कृत भारत' खंड में मुकेश मानस ने अपने आत्मवृत्तांश 'विस्थापन में बचपन' की यात्रा-कथा में एक ऐसे बचपन को समेटा है जिसका अगला ठिकाना फिर कब और कैसे बदल जाएगा यह तय नहीं है. मुकेश मानस का आत्मवृत्तांश विस्थापन की यात्रा-कथा की बाल-स्मृति में समाएं हुए पलों से हमें भीतर तक जोड़ता है. सुशांत दास ने 'राजस्थानी कैंप और प्रधानी का चुनाव' में दलित मजदूरों की मेहनत से बसे इस जगह का मात्र राजनीतिक ही नहीं बल्कि एक मिश्रित सामाजिक ढांचे से परिचय करवाया है. दोनों अंकों में बहिष्कृत भारत खंड के

अंतर्गत पुरानी और नई पीढ़ी के अनुभव कथनों से पाठकों का साक्षात्कार इन अंकों की विशेष उपलब्धि है.

संदीप मधुकर सपकाले
महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

संग्रहणीय अंक

हंस दलित विशेषांक (नवंबर 2019) में मुसाफिर बैठा की रचना (विचार-विमर्श) 'बिहार राज्य और दलित साहित्य' 'हंस' की अभीष्ट उपलब्धि है, किंतु मुसाफिर बैठा ने बिहार के कई दलित लेखकों-कवियों के नाम नहीं गिनाए हैं. झारखंड और भारत के अन्य राज्यों के दलित लेखकों के नाम गिना दिए हैं, जो सिर्फ काम के सिलसिले में बिहार में रह रहे हैं, न कि डोमिसाइल लिए. डॉ. बैठा के इस आलेख में राकेश प्रियदर्शी आदि के नामोल्लेख नहीं है, जो हिंदी और मगही के सुपरिचित कवि हैं. प्रियदर्शी की कविता-पुस्तक भी एक दशक पूर्व से ही प्रकाशित है, जिनकी मगही-रचना पाठ्यपुस्तक में भी शामिल है. ध्यातव्य है, 'हंस' के प्रस्तुतांक में प्रियदर्शी के रेखांकन भी प्रकाशित हैं. दलित साहित्यकारों को आगे बढ़ाने में ओबीसी साहित्यकारों की महती भूमिका रही है, जिनमें श्रद्धेय राजेन्द्र यादव जी तो हैं ही, साथ में कई ओबीसी सितारें भी हैं. अभी के प्रसंगाधीन आलेख में मुसाफिर जी ने मेरा नामोल्लेख किए बिना एक विषयांतर टॉपिक चस्पाया है. प्रस्तुतांक के संपादकीय में अतिथि संपादक अजय नावरिया ने अच्छा लिखा है—"धर्मग्रंथों के अध्ययन से पता चलता है कि ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों में भी आपस में छुआछूत का चलन था. ब्राह्मण जाति के लोग आपस में श्रेष्ठ-हीन मानते हुए ब्राह्मणों के साथ ही अस्पृश्यता का व्यवहार करते थे." यानी इस यातना को, जिसे भी जब अवसर मिला, प्रत्येक ने दूसरे-तीसरे को प्रताड़ित किया. कुल मिलाकर प्रस्तुतांक एक संग्रहणीय अंक है.

सदानंद पॉल
नवाबगंज, मनिहारी, कटिहार-बिहार

स्थिर है अभी ब्राह्मणवाद

नीर-क्षीर को आत्मसात करने वाली पत्रिका 'हंस' ने वर्ष 2019 में दलित विशेषांक का प्रकाशन किया. दलित विशेषांक के संपादकीय में दलित वर्ग की कुछेक परिस्थितियों के प्रति जिस प्रकार था या थी का प्रयोग किया गया है मैं समझता हूं कि आज भी वे स्थितियां कमोवेश कायम हैं. बदलाव तो आया है किंतु उसकी गति मंद है. अतिथि संपादक ने स्वीकार किया है कि निम्न वर्ग में से भी एक मध्य वर्ग उत्पन्न हुआ है. आरक्षण भी इस नए मध्यम वर्ग के लिए सहायक सिद्ध हुआ है. अंग्रेजी शिक्षा पद्धति ने भी इसमें योगदान किया है. हमारी मान्यता है कि आरक्षण का लाभ लेकर जो भी लोग लाभान्वित हुए हैं उन्हें सामान्य श्रेणी में करने का प्रयास होना चाहिए जिससे पुनः दूसरे लोगों को मौका मिल सके. राजनीति के क्षेत्र में आरक्षित सीटों पर कुछ परिवारों का आरक्षण सुरक्षा-कवच बना हुआ है तथा संसद में 'यह हमारा संवैधानिक अधिकार है' की सिंह गर्जना होती है. यह भी जिक्र है कि दलितों के ऊपर दबंगई एवं अत्याचार करने का पिछड़ों को सामाजिक अधिकार प्रदान किया गया था. हम समझते हैं कि आज भी सवर्ण समुदाय ने अपनी कृषि व्यवस्था को पिछड़ों एवं दलितों को सौंपकर उसी तरह की टकराव की स्थिति उत्पन्न कर दी है.

विशेषांक की कहानी 'ठोकर' निश्चित रूप से अत्याधुनिक पारिवारिक परिवेश और परवरिश के तरीके को ठोकर मार रही है. 'आंच की जांच' कहानी का तो कहना ही क्या? मर्मस्पर्शी एवं धारदार है. 'दो दलित व्यापारी' कहानी भी अच्छी लगी.

दिनेश तिवारी
राधा-शांता महाविद्यालय, तिलौथू, रोहतास, बिहार

जातीय सत्य की पड़ताल

'हंस' 2019 दलित साहित्य विशेषांक के दोनों अंक पढ़े. अतिथि संपादक अजय नावरिया द्वारा लिखे संपादकीय में कुछ महत्त्वपूर्ण बिंदुओं की पड़ताल की गई है. वर्णव्यवस्था के बहाने जातीय सत्य की सूक्ष्म पड़ताल पढ़ने को मिली कि किस प्रकार जातियों में अन्य जातियों की खोज ने असमानताओं की एक परंपरा को खड़ा किया गया. दलित मध्यम वर्ग के बुद्धिजीवी समाज को बिके ईमान वाले कहकर, यह भी कहते हैं कि उनकी अति महत्वकांक्षाएं उनके इस चरित्र का निर्माण कर रही हैं. वे आरक्षण व्यवस्था को तुरंत समाप्त कर देना चाहते हैं और जाति व्यवस्था को बचाए रखने में जी जान लगा देते हैं जबकि यदि जातिवाद नहीं होता तो आरक्षण की आवश्यकता ही नहीं होती. समान वितरण, समान अवसर समान अधिकार होते तो कहने ही क्या थे.

हंस दलित साहित्य विशेषांक में रजत रानी 'मीनू' की कहानी 'मैं खबरदार' आधुनिक परिवेश के परिप्रेक्ष्य में लिखी कहानी है. जिसमें जातीय दंश, प्रदूषण की समस्याओं, कारणों, पत्रकारिता जैसे पेशों में जातीय प्रपंचों की पेंचदार कड़ी को स्पष्टता से पाठकों के समक्ष रखा गया है. स्त्रीमन के अंतर्द्वंद्व और दोहरे शोषण को झेलती महिला पत्रकार जिसे टारगेट कर अन्य सहकर्मियों से अत्याधिक कार्य सौंप परेशान किया जाता हैं. कहानी का शिल्प, कलेवर सभी स्वागत योग्य है. विमर्श के लिए प्रश्न छोड़ जाती है यह कथा. मन पर छाप छोड़ती है.

हेमलता महिश्वर दलित स्त्रीवादी की सैद्धांतिकी लेख में स्त्री संसार की प्रमाणिक रचनाओं के रूप में थेरी गाथाओं को लेती हैं सत्य भी यही है उससे पूर्व स्त्री लेखन के रुप में कुछ मिलता भी नहीं. स्त्री विमर्श, और बहुजन स्त्री विमर्श जो आज तक मेरे लिए समझ से बाहर थे कि स्त्रियों के दो खेमे कैसे हुए? इनके प्रस्तुत लेख ने मेरे उस बड़े प्रश्न को सुलझा दिया.

राजकुमारी
जा.हु.दि.
दिल्ली विश्वविद्यालय

अनकही पीड़ा

हंस पत्रिका का दलित अंक दलित समाज की अनकही पीड़ा दर्शाता है. राजकुमारी का बहिष्कृत कालम में छपा आत्मकथ्य जो समाज में व्यापत इस वर्ग भिन्नता ने मानव को मानव के प्रति जो अमानवीय और असमानता के व्यवहार को पोषित किया है, घृणित ही नहीं अति वीभत्स है लेकिन जब जब समाज के इन वैचारिक शत्रुओं ने अपनी जन्म जात भरे अहंकार के कारण इस समाज को कलुषित करने की मानसिकता को गति देने की कुचेष्टा की है तब तब आप जैसे साहित्यिक विद्वानों ने अपने सृजनात्मक लेखों और सकारात्मक प्रतिक्रिया के बल पर इनके गतिशील पहियों की गति को अवरुद्ध करने का सराहनीय कार्य किया है.

इस लेख के माध्यम से राजकुमारी ने तथाकथित उच्च बौद्धिक वर्ग में, दलितों के प्रति, व्याप्त घृणित भावों को जिस यथार्थता के साथ प्रस्तुत किया है, कटु सत्य है. इसे कहते हैं सच्चे साहित्यकार की कलम जब भी झुकती है, समाज को उसके वास्तविक रूप से रूबरू कराती है, चापलूसी नहीं करती. दूसरे शब्दों में कहें तो सच्चे साहित्यकार की कध्लम किसी भी प्रभाव के सामने नहीं झुकती बल्कि अपने बौद्धिक कौशल से झुकाने का मादा रखती है.

सतपाल सिंह

दलित जीवन के कटु अनुभव

हंस पत्रिका के दलित विशेषांक पढ़े. इस विशेषांक के प्रथम सोपान में विभिन्न कहानियों में से राजकुमारी द्वारा प्रणीत एक 'नागपाश' कहानी अपनी ओर खींचती है. इस कहानी में लेखिका ने जीवन की गहराइयों और अनुभवों को लेखनी से कागज पर न केवल उकेरने का प्रयास किया है, अपितु पुनः उस जीवन को जीने का एहसास करा दिया है. दलित साहित्य की खासियत यही है कि यह मानवीय विद्रूपताओं का सजीव चित्रण करता है तथा शास्त्रीय पुराणपंथी बातों के स्थान पर यथार्थ और अनुभवों को तरजीह देता है. नागपाश कहानी को पढ़कर ऐसा लगता है कि लेखिका राजकुमारी जी बहुत कुछ कहना चाह रही है, किंतु कहानी के तत्त्वों से बंधे होने के कारण एक बिंदु पर केंद्रित है. उनके स्वयं के जीवन पर आधारित नागपाश नामक आत्मकथा के अंश को पढ़कर हृदय अंदर तक विचलित हो गया है.

विकास सिंह
मारवाड़ी कॉलेज, दरभंगा

डी.पी.टी. की याद

हंस का फरवरी 2020 अंक पढ़ा. आपका संपादकीय इस बार डी.पी.टी. अर्थात् देवीप्रसाद त्रिपाठी पर केंद्रित, अच्छा लगा. आपने उन पर संपादकीय लिखकर उन्हें सच्ची श्रद्धांजलि दी है. मेरी डी.पी.टी. से इलाहाबाद में क्षणिक किंतु आत्मीय मुलाकातें हैं. 80 के दशक में पाकिस्तान से मशहूर शायर फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ आए हुए थे. उनके इलाहाबाद के सारे कार्यक्रमों का संयोजन डी.पी.टी. ने किया था. 80 के ही दशक में प्रेमचंद जन्मशती समारोह का आयोजन 'हिंदुस्तानी अकादमी' में हुआ था, जिसमें देश भर से लेखक आए हुए थे. अज्ञेय, जैनेंद्र कुमार, नामवर सिंह, भैरव प्रसाद गुप्त, विजयदेव नारायण साही, दूधनाथ सिंह, कालिया वगैरह. उस गोष्ठी में मैंने पहली बार डी.पी.टी. को धाराप्रवाह बोलते सुना है. वह अद्‌भुत वक्ता थे. उन्हें उद्धरण व पेज संख्या भी कंठस्थ थी. उन दिनों वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान के अध्यापक थे.

इस अंक में खगेंद्र ठाकुर पर प्रेमकुमार मणि का संस्मरण रोचक और आत्मीय है. खगेंद्र ठाकुर इलाहाबाद भी अकसर विभिन्न संगोष्ठियों में आया करते थे और विचारोत्तेजक भाषण दिया करते थे. मेरी उनसे कई आत्मीय मुलाकातें हैं. उनके प्रकाशक हमारे पड़ोसी भी थे. इस अंक की कहानियां, कविताएं सभी पठनीय हैं. राजेंद्र यादव के न रहने पर भी उनके विरासत आप लोग कायदे से संभाल रहे हैं.

विवेक सत्यांशु
इलाहाबाद

दुखां दी कटोरी

हंस मार्च 2020 अंक में प्रकाशित रूपा सिंह की कहानी 'दुखां दी कटोरी : सुखां दा छल्ला' पढ़ी. कहानी पढ़ते हुए जिन मनः-स्थितियों से गुजरना हुआ वह यहां कुछ कुछ व्यक्त सा भी है और कुछ-कुछ अव्यक्त. यद्यपि कहानी का मूल स्वर दुख और पीड़ा का है पर जहां मानवीय प्रेम केंद्र में हो वहां दुख मिश्रित सुख की गूंज भी ध्वनित होती है. कहानी की बुनावट इतनी महीन है कि कहानी की तस्वीर एक पठन में स्पष्ट नहीं होती और कहानी पुनर्पाठ की मांग करती है.

प्रेम का अमूर्त छल्ला सरहद के उस पार छूट जाता है और इस पार दुख की कटोरी उसकी पीठ पर कूबड़ के रूप में मूर्तमान हो उसे आजीवन पीड़ा भोगने को छोड़ देती है.

कहानी की सूत्रधार के अचरज भरे बोल कहानी को एक नया डाइमेंशन देते हैं. विभाजन की त्रासदी, स्त्री जीवन की पीड़ा के साथ-साथ यह कहानी कौमी एकता के नजरिए से भी पाठक को देखने के लिए मजबूर करती है. भारत पाक विभाजन का सर्वाधिक असर सिक्ख और मुस्लिम कौम पर ही रहा है, यह असर किन-किन रूपों में रहा होगा उसे बेबे के जीवन में झांककर ही देखा जा सकता है.

कहानी की सूत्रधार के मध्य भी मानवीय रिश्तों की हल्की ध्वनि, ध्वनित होती है जिसे कहे बिना बस महसूसा भर जा सकता है. यह रिश्ता दिली प्रेम का या कौमी प्रेम का भी हो सकता है जो पाठक को सकून देता है. सुगठित शिल्प,भाषा और बुनावट के साथ यह एक क्लासिक कहानी है.

रमेश शर्मा

खुशबू

भीष्म साहनी

मदनगोपाल मर गया है, पर अपने पीछे अपने नाम की 'खुशबू' छोड़ गया है. बड़ा दोस्त परवर था, बड़ा मेहमान नवाज, बड़ी सूझ-बूझ वाला, सभी की जबान पर उसकी दोस्त परवरी और दरियादिली की चर्चा है. जिंदगी भर अपना प्यार लुटाता रहा है, और प्यार ही नहीं, अपना धन भी पानी की तरह बहाता रहा है.

पर मदनगोपाल अपने पीछे एक सवाल भी छोड़ गया है जो किसी-किसी वक्त तो मदनगोपाल के गुणगान के नीचे डूब जाता है और गौण-सा लगने लगता है, पर फिर, अनजाने में ही, वह सांप के फन की तरह फुंकारता हुआ अपना सिर उठा लेता है और बार-बार मस्तिष्क को डसने-सा लगता है.

मदनगोपाल की मृत्यु कल शाम अस्पताल में हुई थी, और अब सुबह के ग्यारह बज रहे थे, और उसका शव श्मशान-भूमि की बारहदरी में रखा है और सैकड़ों मर्द और औरतें आखिरी बार उसके दर्शन कर पाने, उसके चरण छू पाने के लिए इकट्ठा हैं. श्मशान-भूमि जैसे बीहड़ स्थान में भी मेले का-सा समां बंध गया है. कुछ लोग बारहदरी से हटकर श्मशान-भूमि के आंगन की दीवार पर जा बैठे हैं. जगह-जगह आंगन में, पेड़ों के नीचे, दीवार के पास, पुरुषों की छोटी-छोटी टोलियां बन गई हैं और सभी टोलियों में मदनगोपाल की ही चर्चा चल रही है, उसकी पैनी सूझ और कामयाब जिंदगी की. इस मेले में श्मशान-भूमि का रूप ही बदल गया है. आवारा कुत्ते, दाह-कुण्डों की छतों पर भागते कूदते बंदर और सुलगते दाह-कुंड और श्मशान-भूमि का सूना-सूना-सा माहौल, सभी ढक-से गए हैं. लगता है आज केवल एक ही दाह-संस्कार किया जाएगा और वह मदनगोपाल का होगा. एक के बजाय, श्मशान भूमि के तीनों अचारजी सब काम छोड़कर, मदनगोपाल के दाह-संस्कार की तैयारी में लगे हुए हैं. श्मशान भूमि में पहुंचने वाली अन्य अर्थियों की ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता. एक दाह-कुण्ड के पास, देर से एक मैली-सी औरत अपने दो-एक संबंधियों के साथ, सफेद चादर में लिपटे एक शव के सिरहाने बैठी है. लगता है, इस इंतजार में है कि कब कोई अचारजी खाली हो और वह अपने मृतक का दाह-कर्म करवा पाए.

बारहदरी के पास ही खड़े, लंबे-ऊंचे जगन्नाथ वकील ने रूमाल से आंखें पोंछते हुए अपना हाथ अपने मित्र के कंधे पर रखते हुए कहा, "एक बार मुझे अपने पांव का एक्स-रे करवाना था. क्लिनिक का डाक्टर मदनगोपाल का परिचित था. मैंने यों ही बातों-बातों में जिक्र किया तो कहने लगा मैं डाक्टर को टेलीफोन कर दूंगा, तुम्हें इंतजार नहीं करना पड़ेगा. मैंने कहा बड़ी अच्छी बात है. पर जानते हो क्या हुआ, मैं क्लिनिक में पहुंचा तो क्या देखता हूं कि मदनगोपाल खुद वहां बैठा हुआ है. कहने लगा, मैंने सोचा क्या मालूम डॉक्टर को ध्यान रहे न रहे, मैं खुद ही पहुंच जाऊं. क्लीनिक पास ही तो है..." कहते-कहते वकील की आंखें भर आई.

"प्यार का भूखा था, बस प्यार का भूखा. अगर कहीं से उसे प्यार मिलता तो अपनी जान भी निछावर करने के लिए तैयार हो जाता था. सोचा जाए तो दुनिया में प्यार के सिवा और है भी क्या? वह प्यार मांगता नहीं था, देता था चारों ओर अपना प्यार लुटाता था. और धन क्या कम लुटाता था? धन भी लुटाता था." जगन्नाथ ने कहा.

शोक करने वालों में शायद सबसे ज्यादा दुखी बूढ़ा नौकर ही था. दुबला-पतला घर का रसोइया, अपनी दुखती कमर पर हाथ रखे घर की बारहदरी के आस-पास ही घूम रहा था. जब कभी मदनगोपाल के किसी मित्र अथवा संबंधी को पहचान लेता तो हाथ ऊंचा उठाकर, ढाह मारकर रो पड़ता, "चला गया. छुट्टी कर गया. खत्म हो गया."

"घर का पुराना नौकर है" जगन्नाथ ने कहा, "नौकरों की

सरपरस्ती भी कोई मदन से सीखे. एक बार मैंने कहा, मदन तुमने नौकरों को बिगाड़ रखा है, डेढ़-डेढ़ सौ रुपया तनख्वाह उन्हें देते हो, नौकरों को भी चाय के साथ मिठाई खाने को देते हो, तो कहने लगा, "ये खा लेंगे तो क्या बुरा है." फिर हंस कर बोला, "मैं जानबूझकर इन्हें मिठाई खिलाता हूं ताकि इन्हें मिठाई खाने की लत पड़ जाए और ये मेरे घर में ही बने रहें. आजकल अच्छे नौकर मिलते कहां हैं इन्हें मालूम है और किसी जगह उन्हें मिठाई खाने को नहीं मिलेगी..."

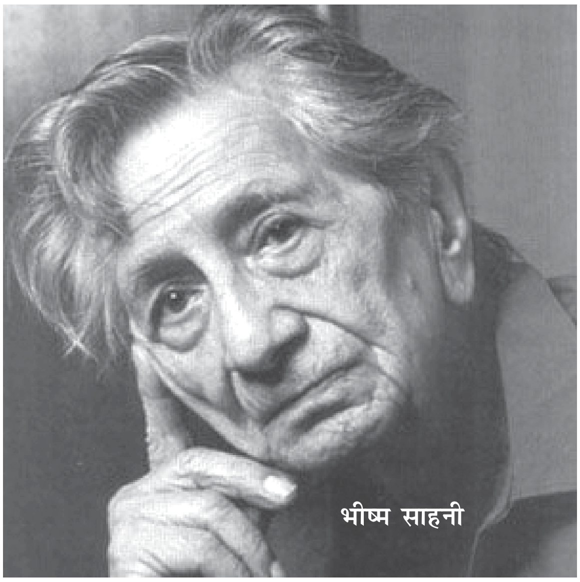
भीष्म साहनी

"बड़ा हंसमुख था, सारा वक्त मजाक करता रहता था."

हर टोली में ऐसी ही चर्चा चल रही थी. आंगन के पार, दीवार पर पांव लटकाए, एक बुजुर्ग कह रहे थे, "हाथ का सखी, जबान का पक्का, खुशगो, खुशमिजाज आदमी था." और वह भी अपना अनुभव सुनाने लगा, "मेरी बेटी की शादी थी. बारात को खिलाने के लिए मैंने और तो सभी चीजों का प्रबंध कर लिया था, पर मीठी चीज क्या दूं, यही एक उलझन थी. उन दिनों न सूजी मिलती थी, न मैदा. मैंने सोचा, कस्टर्ड बनवा दूंगा, पर जब वक्त आया तो पता चला कि बाजार में कस्टर्ड-पाउडर ही नहीं मिल रहा है. उन दिनों मदन से मेरा नाममात्र का ही परिचय था. मैं नया-नया ही पुलिस कप्तान बनकर शहर में आया था. उसे मेरी परेशानी का पता चलने की देर थी कि उसने जगाधरी में किसी को टेलीफोन कर दिया और दूसरे दिन एक आदमी जगाधरी से दस बड़े-बड़े डिब्बे कस्टर्ड पाउडर के लेकर पहुंच गया. जब मैंने पैसे देने चाहे तो मदनगोपाल बोला, जमीन जायदाद सांझी नहीं होती, कप्तान साहिब, लेकिन बेटियां सब की सांझी होती हैं." कहते हुए बुजुर्ग की आंखें भी भर आईं और गला रुंध गया.

"प्यार ही प्यार तो है दुनिया में,
दुनिया में और रखा ही क्या है."

मदनगोपाल के दाह-संस्कार में अभी देर थी. किसी का इंतजार था. पहले कुछ लोगों का अनुमान था कि मदनगोपाल के बड़े भाई का इंतजार होगा, जिन्हें जलंधर से आना था, लेकिन श्मशान भूमि में पहुंचने के थोड़ी ही देर बाद, मदनगोपाल के बड़े भाई पहुंच गए थे. पर दाह-संस्कार अभी भी रुका हुआ था, और लोग फिर से कयास लगाने लग गए थे कि किसका इंतजार किया जा रहा है. कुछ लोगों ने थककर सिगरेट सुलगा लिए, कुछेक अपने साथ अखबार उठा लाए थे, वे अखबार खोलकर पढ़ने लगे. पर जहां कहीं भी दो आदमी बातें कर रहे होते, मदनगोपाल का ही गुणगान सुनाई पड़ता.

"अंदर से उसे पता चल ही गया था कि उसके दिन पूरे होने वाले हैं."

"देवता आदमी था, ऐसे लोगों के अंदर फुटनी फूट जाती है कि चलने का वक्त आ गया है."

"नौकरों तक का हिसाब चुकता कर गया है. सभी को एक-एक साल की तनख्वाह पेशगी दे गया है ताकि वे घर में बने रहें."

"बड़ी सूझ-बूझ वाला आदमी था. छोटी- छोटी बात की उसे खबर रहती थी."

"सचमुच मदन की हैसियत ही थी कि जब उसने व्यापार शुरू किया बीवी के गहने बेचकर उसने 'फ्रिस्को' के शेयर खरीदे थे. मुझे भी कहता था, खरीद लो, इस कम्पनी का काम खूब चमकेगा. बस, इसी में वारे-न्यारे हो गए. आज सौ का शेयर ग्यारह सौ में भी नहीं मिलता."

"जमाना-शनास था, जमाने की नब्ज समझता था."

"किस्मत की भी बात होती है, जगन्नाथजी. मदन किस्मत का धनी था. जिस काम में हाथ डालता उसी में उसे लाभ होता था."

"दिमाग बड़ी चीज है, हरगोपाल, उसकी सूझ तेज थी. पुराने ढंग के व्यापार नहीं करता था. जमाने की नब्ज पहचानता था. तुम्हें शायद मालूम नहीं, उसके रिश्तेदार का एक आदमी, पूरा साठ हजार रुपया लेकर चंपत हो गया था उसका. मदन को बहुत सदमा पहुंचा. और कोई होता तो हथकड़ी लगवा देता, लेकिन मदन ने 'सी' नहीं की. चुपचाप सारा नुकसान पी गया.'

इस पर हरगोपाल ने झुक कर जगन्नाथ के कान में कहा, "करता भी क्या, जगन्नाथ, अपनी ही बदनामी थी. नंबर 'दो' का पैसा था, किसे क्या खबर करता."

"नंबर दो की बात नहीं, ब्लैक का हो, चाहे व्हाइट का. यह तो अपनी सूझ की बात है. जब वह पैसे उड़ा ले गया तो मैंने मदन से कहा भी, कुछ तो उसे सबक सिखाना चाहिए. कहने लगा, उसी के जरिए लाखों कमाए भी हैं जगन्नाथ. कुछ फिक्र नहीं जो ले गया

तो. तुम देखते जाओ भगवान ने चाहा तो वह मेरे पास लौट आएगा और वह सचमुच लौट आया और फिर से मदन के पास ही काम करने लगा. वह देखो, सामने दीवार पर बैठा है, रो-रोकर आधा हुआ जा रहा है."

बाहरदरी के अंदर स्त्रियों का जमघट था. अमीर घरों की स्त्रियां अपनी सफेद साड़ियों और अवसाद भरे दमकते चेहरों के कारण बड़ी कमनीय लग रही थीं. मदनगोपाल की स्थूलकाय भावज सफेद साड़ी तो पहन आई थी पर हाथ से अपनी हीरे की अंगूठी उतारना शायद भूल गई थी. ऐसी भूल और भी अनेक औरतों ने की थी. इसी कारण सिर पर से आंचल ठीक करते हुए या रूमाल से आंसू पोंछते हुए कभी किसी स्त्री की हीरे की अंगूठी चमक जाती, कभी कान का हीरा चमक जाता.

मदनगोपाल के भागीदार के लिए ज्यादा देर तक खड़ा रह पाना कठिन हो रहा था. यों भी अपनी बड़ी तोंद के कारण उसका मुंह सारा वक्त खुला रहता था और वह हंसता हुआ-सा सांस लेता था. उसकी बड़ी-बड़ी आंखों से यों भी पानी बहता रहता था. आज कह पाना कठिन था कि आंसू बह रहे हैं या पानी बह रहा है?

"तुम क्या समझते हो?" जगन्नाथ ने अपने मित्र के कंधे पर हाथ रखते हुए पूछा, "मदन के चले जाने के बाद उसका पार्टनर उसकी घरवाली को कुछ रूपया देता रहेगा या बंद कर देगा."

मित्र ने कंधे बिचकाकर कहा, "कोई किसी के दिल की क्या जानता है. इसका दिल इतना बड़ा तो नहीं है जितना मदन का था."

"मदन की तो बात ही छोड़ो, वह तो लाखों में एक था. पर तुम क्या सोचते हो...?"

"मैं तो सोचता हूं, देगा, इतना बेशर्म तो नहीं होगा."

"और दफ्तर की मोटर भी जो मदन को दे रखी थी वह छीन तो नहीं लेगा?"

मित्र ने कंधे बिचका दिए, "कौन किसी के दिल की थाह पा सकता है, जगन्नाथ, देखें क्या होता है?"

"मोटर छीन ली तो मदन की घरवाली को बहुत बुरा लगेगा."

"कौन-सा उसे पल्ले से कुछ देना है पहले भी नम्बर दो का रुपया दोनों तरफ चलता था, अब भी चलता रहेगा. मदन की घरवाली का महीना बांध देगा."

"नहीं अपनी घरवाली को तो मदन पहले ही डायरेक्टर बनवा गया है."

"फिर क्या मुश्किल है? कुछ व्हाइट में से देता रहेगा, कुछ ब्लैक में से."

"आंख तो नीची हो गई ना. अब मदन की घरवाली की. वह अकड़ तो नहीं रहेगी न, जो मदन के जीते जी थी. नाक में से बिच्छू गिरते थे. किसी से सीधे मुंह बात नहीं करती थी. अब सीधी हो जाएगी."

"नजर-वजर कोई नीची नहीं हुई, जगन्नाथजी. उल्टे उस की अकड़ बढ़ जाएगी. घरवाला मर जाए तो औरत ज्यादा निडर हो जाती है. हां, पैसा न हो तो बात दूसरी है."

"मैंने सुना है मदन कोई वसीयत भी छोड़ गया है, और मदन की बीवी उसे खोलने से इन्कार कर रही है."

उलझे बालों और चेहरे पर दो दिन की शेव बढ़ाए मदनगोपाल का छोटा भाई, हर किसी के सामने हाथ जोड़ता हुआ बारहदरी की ओर बढ़ रहा था, और एक ही वाक्य दोहराए जा रहा था. "वह मेरा भाई नहीं था, मेरा पिता था. मेरा पिता चला गया है. पिताजी का देहांत सन् 50 में हुआ था, पर सच पूछो तो पिताजी का देहांत आज हुआ है."

उसके मन में भी खुलखुती लगी थी कर्ह भावज वसीयतनामे को खुर्द-बुर्द ही न कर डाले. संस्कार के काम से निबटूं तो सबसे पहले, किसी आदमी को बीच में डालकर वसीयतनामा निकलवाऊं.

मदन का छोटा भाई हाथ बांधे पास से गुजरा तो जगन्नाथ ने उसे रोक लिया और आत्मीयता भरी आवाज में बोला, "वसीयतनामा जल्दी खुलवा लेना, इसमें देरी नहीं करना. आज ही शाम को बात चला देना. रखा किसके पास है?"

"भावज के पास ही है."

"आज जरूर निकलवा लेना."

कुछ शब्दों की भनक जगन्नाथ के साथी के कान में पड़ गई, "वसीयतनामे में क्या होगा? उसमें नंबर दो के पैसे का तो जिक्र नहीं हो सकता ना."

इस पर जगन्नाथ अपना मुंह और भी ज्यादा नजदीक ले जाकर धीमे से बोला, "क्या कहते हो, मदन कच्ची गोलियां नहीं खेलता था. ब्लैक का सारा रुपया व्हाइट में बदलवा गया है."

"वसीयतनामा खुले तो पता चले. वह वसीयतनामा खोलेगी ही नहीं."

"हां, कह दे कि कोई वसीयतनामा ही नहीं है तो कोई क्या कर सकता है."

इस पर जगन्नाथ का मित्र फिलासफरों के से अंदाज में बोला, "पैसा बहुत बुरी चीज है ऐसे बसे-रसे घर बरबाद हो जाते हैं."

मदन का छोटा भाई अपने हाथ में पानी का गिलास उठाए,

चलता हुआ बारहदरी के पास आया. मदन की भारी भरकम पत्नी का सिर जो दाएं कंधे पर झुका था, पानी का गिलास देखकर दाएं से बाएं कंधे पर लुढ़क गया. लगा जैसे उसने कुछ देखा ही न हो.

"पी लो, पी लो."

"पी लो बहिन जी, पी लो." किसी स्त्री ने कहा, "दिल मजबूत करो."

"पी लो, पी लो," चारो ओर से आवाजे आईं.

"मुंह से लगाकर पिला दो जी," एक स्त्री ने कहा और पानी का गिलास हाथ में लेकर मदन की पत्नी के मुंह से लगा दिया.

बारहदरी के सिरे पर बैठी वृद्धकाय महिला, जो मदन की पत्नी की मौसी थी नाक चढ़ाकर बोली, "अब बड़ा पानी पिला रहा है. मदन जीतां था तो सीधे मुंह बात भी नहीं करता था." और हाथ झटककर मुंह फेर लिया और फिर एक बार नाक चढ़ाया. फिर यह देखकर कि धनी लोगों की भीड़ देखकर कि उसकी बगल में उसी छोटे भाई की सास बैठी है, झट से उसकी आंखों में आंसू भर आए और सिर हिलाकर बोली, "अब बेचारी को इन्हीं का सहारा है, भला हो इन बच्चों का जो मदन की घरवाली को अपनी मां समझते हैं. इनको इसी ने तो पाला है..."

दाह-संस्कार का अभी कहीं कोई चिह्न नजर नहीं आ रहा था. अचारजियों ने कुण्ड में लकड़ियां जोड़ दी थीं.

मदन का भागीदार बारहदरी के निकट, एक ऊंचे से पत्थर पर बैठा, दोनों हाथ तोंद पर जोड़े, गर्दन आगे को झुकाए शून्य में देखे जा रहा था. उसका मुंह अभी भी खुला था और सांस धौकनी की तरह चल रही थी और जबड़ा लटक रहा था. मदन के अंतिम दर्शन करने के बाद प्रत्येक व्यक्ति भागीदार के पास आकर अफसोस जाहिर करता. भागीदार ज्यों का त्यों लटकाए बैठा रहा और तोंद पर जुड़े हाथ हल्के से हिला देता.

इस मुद्रा में भागीदार बड़ा भौंडा लग रहा था, लेकिन धन की महिमा से मण्डित होने के कारण उसकी भौंडी आकृति में भी एक प्रकार की विशिष्टता आ गई थी.

उसी वक्त प्रवेशद्वार की ओर से ऊंचा ऊंचा रोने की आवाज आई. लोग घूम-घूमकर देखने लगे.

"बिशनसिंह आया है," जगन्नाथ ने कहा, "मदन का कारिन्दा है."

उम्ररसीदा बिशनसिंह के कपड़े सफर के कारण मैले हो रहे थे. मदनगोपाल की मृत्यु का समाचार पाते ही उसने तार दिया था कि पहुंच रहा हूं. यों वह न भी पहुंच पाता तो कोई विशेष अंतर पड़ने वाला नहीं था, क्योंकि मदनगोपाल ही उसे अच्छी तरह से जानता था और लोगों के लिए तो वह महज कारिन्दा ही था.

पर सरदार बिशनसिंह, श्मशान-भूमि के आंगन में घुसते ही झेंपने लगा था. बड़े-बड़े धनी लोगों की भीड़ देखकर वह झिझक गया. अपने मैले कपड़ों के कारण तो वह और भी ज्यादा झेंपने लगा. आया तो था मदनगोपाल के पैरों पर सिर रखकर आंसू बहाने, लेकिन मदनगोपाल तक पहुंच पाना ही उसके लिए असंभव हो रहा था. वह धीरे-धीरे सकुचाता हुआ आगे बढ़ता आया, पर बारहदरी के पास पहुंचकर डोल गया, उसकी हिम्मत जवाब दे गई. वहीं पर उसकी नजर पुराने नौकर खेतू पर पड़ी, जो अभी भी बारहदरी के बाहर खड़ा बिसूर रहा था. मदनगोपाल के किसी नाते-रिश्तेदार के सामने शोक व्यक्त कर पाने का साहस न जुटा पाते हुए, बिशनसिंह उसी से लिपट गया और उसी के सामने अफसोस करने लगा, उसी के कंधों पर आंसू बहाता रहा. बहुत से लोग इस अटपटे दृश्य को देखकर मुस्कुरा दिए.

"मदन के लाखों रुपए इस आदमी के हाथ में रहते थे, ट्रकों के ठेके का सारा काम यही देखता था." जगन्नाथ ने कहा.

"ट्रकें क्या?"

इस पर जगन्नाथ मुस्कुराया, "बिहार में भी मदन ने काम ले रखा था, मगर किसी दूसरे नाम से. दस ट्रक हर महीने पटना से मद्रास पहुंचाता था. बड़ी बचत थी. मैंने ही उसे मशविरा दिया था कि इन्कम टैक्स से बचने के लिए किसी दूसरे नाम से यह काम चलाओ. यह सरदार ही सभी बिल बनाता था और नम्बर दो के पैसे भी यही रखता था." फिर अपने मित्र की याद में गदगद होते हुए बोला, "लेकिन मदन दोस्तों का दोस्त था. इस सरदार की बेटी की शादी का सारा खर्च मदन ने बर्दाश्त किया था और दस हजार रूपए अलग से दिए थे."

"नंबर दो के पैसे का डर भी तो रहता है ना." हरगोपाल ने बीच में कहा.

इस पर जगन्नाथ तुनक पड़ा. "फिर वह बात. ब्लैक का पैसा तो हर किसी के पास रहता है, क्या सभी अपने कारिन्दों की इस तरह मदद करते हैं."

"नहीं, मगर ब्लैक के पैसे का जोखिम भी तो होता है न, कोई कितना घर पर रखे?"

जगन्नाथ और ज्यादा उत्तेजित हो उठा, "मदन सब गुर जानता था. वह कच्ची गोलियां नहीं खेलता था. जिन दिनों छापे पड़े थे. तुम्हें याद है, मदनगोपाल की ओर किसी ने आंख उठाकर भी नहीं देखा. यह बात नहीं है. अपने-अपने करेक्टर की बात है. उसका करेक्टर बहुत ऊंचा था."

फिर थोड़ी देर चुप रहने के बाद सिर हिलाकर बोला, "अगर मदन खण्डसारी के झमेले में नहीं पड़ता तो आज वह जिंदा होता.

मैंने उसे समझाया भी था कि यह तुम्हारे बस का काम नहीं है, तुम इसमें नहीं पड़ो."

उसी दिन सुबह अखबार में खण्डसारी को लेकर खबर छपी थी कि खण्डसारी के भाव गिर जाने के कारण गांव वालों को बहुत नुकसान पहुंचा है. कुछ लोगों को तो भुखमरी का सामना करना पड़ रहा है. ऐसी ही कोई खबर छपी थी.

"उसने गलत क्या किया? खण्डसारी के काम में तो लोगों ने लाखों कमाए हैं."

"मदन ने भी कमाए हैं. कमाए ही नहीं, अपना बहुत सा ब्लैक का पैसा व्हाइट में भी बदल लिया...लेकिन फिर भी अपनी चादर देखकर पांव फैलाना चाहिए. जगह- जगह काम फैलाते जाओ तो चिंता तो बढ़ती है ना. उसे मिला क्या? जान से हाथ धो बैठा?"

"मरना-जीना तो इंसान के हाथ में नहीं है ना." हरगोपाल ने जोड़ा.

"इधर मदन ने खण्डसारी के काम में हाथ डाला, उधर चीनी का भाव तेज हो गया. मदन ने लाखों लगा दिए. गांवों में तीन-तीन गुमाश्ते बैठा दिए. बस, वारे-न्यारे हो गए, जब बाजार टूटा उस वक्त तक मदन अपना रुपया निकाल चुका था."

"मदन तो समझदार था, बच निकला, पर जो नहीं बच पाए..."

सहसा, छोटी-छोटी टोलियों में बंटे लोग चुप हो गए और गर्दन घुमा-घुमा कर श्मशान-भूमि के प्रवेशद्वार की ओर देखने लगे, फिर सभी टोलियां टूट गईं और लोगों का समूह आगे की ओर बढ़ आया.

मिनिस्टर आए थे. हाथ बांधे, दाएं-बाएं अभिवादन से सिर हिलाते हुए आगे बढ़ रहे थे. इन्हीं का इंतजार रहा होगा. मिनिस्टरों को भला इतनी जल्दी खबर कैसे मिल जाती है. उनकी बड़ी-बड़ी इमारतों में किसी के जीने-मरने की खबर पहुंच ही कैसे पाती है? मिनिस्टर चलते हुए बारहदरी के बाहर सीढ़ी पर निढाल-सी बैठी मदनगोपाल की पत्नी की ओर बढ़ गए. उन्हें आते देखकर मदन की पत्नी और भी अधिक निढाल हो गई. मिनिस्टर हाथ बांधे खड़े रहे और मदनगोपाल की पत्नी भी हाथ बांधे एक ओर सिर टेढ़ा किए बैठी रही. फिर मिनिस्टर, उसी तरह हाथ बांधे धीरे-धीरे चलते हुए मदनगोपाल के शव के सामने आकर खड़े हो गए. झुक कर प्रणाम किया, आगे बढ़कर पालागन किया. फिर प्रार्थना की मुद्रा में, जुड़े हुए दोनों हाथ छाती पर रखे, चुपचाप खड़े रहे और उसके बाद फिर एक नमस्कार किया और अपनी गहरी प्रभावशाली आवाज में बोले, "मौत उन्हें हमसे नहीं, देश से छीनकर ले गई है."

मंत्री महोदय थोड़ी देर तक गहरे शोक और श्रद्धाभाव से नतमस्तक बारहदरी के बाहर खड़े रहे फिर मुड़कर सभी का अभिवादन करते हुए, धीरे-धीरे श्मशान-भूमि के बाहर निकल गए. परिवार-बिरादरी के अनेक सदस्य, प्रथा के विपरीत लपक-लपककर उन्हें विदा करने के लिए साथ हो लिए.

दाह-संस्कार आरंभ हुआ. मंत्री महोदय का ही इंतजार हो रहा था. जब देह को चिता पर रखा तो भावना का एक और ज्वार उठा और लोग दाह-कुण्ड की ओर बढ़ आए.

अभी मिनिस्टर महोदय प्रवेशद्वार तक पहुंचे ही होंगे तो एक ओर जहां, एक के साथ एक, तीन चार दाह-कुण्ड थे, झगड़ा उठ खड़ा हुआ. लोग घूम-घूमकर देखने लगे. उन्हें यह व्यवधान बुरा लगा. मदनगोपाल की अंत्येष्टि पर तो कोई अशुभ घटना नहीं घटनी चाहिए.

श्मशान-भूमि का बड़ा अचारजी किसी औरत के साथ उलझ रहा था. उसके पास ही मदन का भतीजा खड़ा था जो दाहकर्म का सारा प्रबंध देख रहा था. सहसा अचारजी ने उस औरत को जोर से धक्का दे दिया. कुछ लोग आगे बढ़कर अचारजी के पास चले गए.

"औरतजात पर हाथ नहीं उठाते. यह तुमने क्या किया?" एक आदमी ने अचारजी को डांटते हुए कहा.

"नहीं साहब, यहां दम लेने की फुर्सत नहीं और ये लोग मेरे पीछे लगे हैं. साली बके जा रही है. देखती नहीं, काम कर रहा हूं."

लोगों ने समझा उसकी घरवाली रही होगी जिसे डांट रहा है. पर वह स्त्री धक्का खाकर गिरती-गिरती बची और वहां से हट गई और चुपचाप जाकर एक चबूतरे पर जा बैठी जहां उसके नातियों के बीच सफेद चादर में लिपटा शव रखा था.

"कुछ देखते नहीं, समझते नहीं, एक काम से निबटूं तो कुछ और देखूं. दस बार मुझे परेशान कर चुकी है."

"न-न, औरतजात पर हाथ नहीं उठाते. यह नासमझी की बात है. वह भी बड़े क्लेश में है, भाई." मदनगोपाल के भतीजे ने बड़े स्नेह से अचारजी को समझाया और दस का एक और नोट अचारजी के हाथ पर रख दिया. अचारजी ने नोट को माथे पर लगाया और बोला. "आप ही लोगों का सहारा है मालिक, इन भुक्खड़ लोगों से तो परेसानी ही परेसानी है."

और उन्हीं कदमों मदनगोपाल के दाहकुण्ड की ओर बढ़ आया जहां मंत्रोचारण आरंभ हो गया था. और शुद्ध घी, चंदन, हवन सामग्री और वेदमंत्रों के बीच मदनगोपाल का पार्थिव शरीर पंचभूतों को समर्पित किया जाने लगा था.

❐

(हंस, अगस्त, 1986)

गिरिराज किशोर : स्मृतियां और अवदान

रवीन्द्र त्रिपाठी

न हन्यते

गिरिराज किशोर से मेरा परिचय राजेंद्र यादव ने कराया था. 'हंस' के दरियागंज वाले दफ्तर में. ये लगभग बत्तीस- तैंतीस साल पहले की बात है. साल ठीक ठीक याद नहीं है. सटीक रूप से इतना कह सकता हूं कि ये 1990 के कुछ बरस पहले हुआ था. सर्दी का मौसम था. लगभग शाम पांच बजे घूमता-घामता 'हंस' के दफ्तर में चला गया था.

उस समय मैं दिल्ली विश्वविद्यालय में शोध कर रहा था और फ्रीलांसिंग करता था. यादव जी अक्सर अपने परिचितों से बेतकल्लुफी से बात करते थे. कोई औपचारिकता नहीं. चाहे कोई उम्र में बड़ा हो या छोटा. उस दिन 'हंस' के दफ्तर पहुंचा ही था कि थोड़ी देर के बाद गिरिराज जी वहां आ गए. यादव जी ने उनको देखते ही कहा–'अरे, अचानक कहां से टपक पड़े?' यादव जी के अन्य मित्रों और परिचितों की तरह गिरिराज जी भी उनकी बेतकल्लुफी की इस आदत से परिचित थे, सो बोले–'सोचा तुम सही- सलामत हो या नहीं, ये देख लूं. आखिर तुम्हारी जिम्मेदारी भी तो मेरे ऊपर है पिता जी.' फिर दोनों के ठहाके. मैं भी हंसा. गिरिराज उस दिन एक उम्दा सूट पहने थे. इसी को लक्षित करते हुए यादव जी ने कहा–'ये

गिरिराज किशोर

किसका सूट मार दिया?' गिरिराज जी ने फिर कोई चुटीली बात कही और फिर दोनों के ठहाके. इसी ठहाकेबाजी के दौरान यादव जी ने गिरिराज से मेरा परिचय कराया. गिरिराज ने बड़े प्यार से जताया कि मेरा लिखा कुछ-कुछ पढ़ा है 'हंस' में.

उन दिनों मोबाइल फोन होता नहीं था इसलिए बिना किसी पूर्व सूचना के कहीं पहुंचना सामान्य-सी बात थी. खासकर किसी संपादक-लेखक के यहां. 'हंस' वैसे भी लेखकों का मिलन केंद्र था. दिल्ली में रहने वाले और बाहर से आने वाले वहां रोज ही आते रहते थे. राजेंद्र जी के शब्दों में 'आ टपकते' थे. दोपहर बारह बजे से शाम छह-सात बजे तक. देर तक गपशप होती थी. कभी-कभी नौ-दस बजे तक बैठना' भी.

इस पहली मुलाकात के बाद गिरिराज जी से बाद में अक्सर मुलाकातें होती रहीं. हालांकि वे कानपुर रहते थे लेकिन दिल्ली अक्सर आते रहते थे. जब उनको साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला तब 'जनसत्ता' के लिए उनका साक्षात्कार मैंने ही लिया था.

लगे हाथ यह भी बता दिया जाए कि आगे चलकर 'जनसत्ता' में एक वाकया हुआ जिससे गिरिराज किशोर का गहरा नाता है. हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में यह अज्ञात-सी मगर सच्ची घटना है. मेरी जानकारी में अभी तक कहीं लिखित रूप में आई नहीं है.

वाकया 1992-93 का है. यह लगभग वैसा ही है जैसा पुर्तगाली नोबल पुरस्कार विजेता जोजे सरामागु के उपन्यास 'लिस्बन की घेरेबंदी का इतिहास' (अंग्रेजी नाम 'सीज ऑफ लिस्बन') में होता है. इस उपन्यास में एक प्रूफरीडर लिस्बन के इतिहास संबंधी प्रकाशित होने वाली एक किताब में प्रूफरीडिंग के दौरान एक छोटा-सा बदलाव करता है जिससे किताब का पूरा आशय बदल जाता है.

उस समय गिरिराज जी का एक लेख 'जनसत्ता' के संपादकीय पेज पर प्रकाशित हुआ था. जब अखबार छप गया तो मालूम हुआ कि उसमें एक बड़ी गड़बड़ी हो गई है. लेख तत्कालीन राजनीति पर केंद्रित था और उस समय के प्रधानमंत्री नरसिंह राव का भी उसमें हवाला था. गिरिराज किशोर के मूल लेख में कुछ जगहों पर, जहां वाक्य का अंत 'है' से हो रहा था वहां

प्रकाशित रूप में 'नहीं है' हो गया था. इससे लेख का पूरा ही मतलब बदल गया था. सामान्य पाठक को ये बदलाव समझ में नहीं आए था लेकिन गिरिराज जी की निगाह से यह कैसे बच सकता था? उन्होंने गलती पकड़ ली और कानपुर से, जहां वे रहते थे, तब के संपादक प्रभाष जोशी को फोन किया. फिर प्रभाष जी ने जांच शुरू कराई कि यह सब कैसे हुआ. मुंबई के इंडियन एक्सप्रेस के कार्यालय से दिल्ली केंद्र में कंप्यूटर इंजीनियर बुलाए गए कि जांच करके बताएं कि किस स्तर पर ये सब हुआ. जांच के दौरान पाया गया कि गिरिराज जी के मूल लेख में कंप्यूटर से एडिटिंग की गई है. किसने की एडिटिंग? यह प्रश्न तब के 'जनसत्ता' कार्यालय में एक सनसनीखेज विषय बन गया था. पता लगा कि आलोक तोमर ने ये शरारती फेरबदल किए थे. आलोक तब प्रभाषजी के बहुत प्रिय थे. उनका 'जनसत्ता' के भीतर अपना जलवा था. अब क्या होगा—ये सवाल सबकी जुबां पर था. आखिरकार आलोक तोमर को इस्तीफा देना पड़ा.

वक्त आगे बढ़ा और आगे चलकर ऐसा भी हुआ कि गिरिराज जी साहित्य के इलाके में अखाड़ेबाज बने. इस अर्थ में कि उन्होंने हिंदी के एक दूसरे बड़े अखाड़ेबाज को साहित्य की राजनीति में मात दी. ये दूसरे अखाड़ेबाज थे नामवर सिंह. लेकिन इस दंगल में मात नामवर सिंह जरूर हुए लेकिन वे चित्त नहीं हुए. चित्त हुए कवि केदारनाथ सिंह.

घटना इक्कीसवीं सदी के आरंभिक दौर की है. साहित्य अकादेमी के अध्यक्ष का चुनाव होना था. एक तरफ थे उर्दू के प्रोफेसर गोपीचंद नारंग और दूसरी तरफ थीं बांग्ला की लेखिका महाश्वेता देवी. महाश्वेती देवी को ये चुनाव लड़ाने में जिनकी प्रमुख भूमिका थी वे थे नामवर सिंह. नामवर जी की तूती बरसों तक साहित्य अकादेमी में बोलती रही. इसी कारण ये आम धारणा भी बन गई थी कि अकादेमी में हिंदी को लेकर हर फैसले में नामवर जी की चलती है. इसकी प्रतिक्रिया तो होनी ही थी. इसी कारण चुनाव के दौरान हिंदी के कई लेखक गोपीचंद नारंग के साथ हो गए थे. इनमें प्रमुख थे कमलेश्वर और गिरिराज किशोर. राजस्थानी के लेखक विजयदान देथा ने नारंग के पक्ष में अखबारों में लिखित अभियान चलाया था.

जहां तक मेरी जानकारी है, नामवर सिंह से खार खाए हिंदी के कुछ लेखकों का ये सवाल भी था कि अगर महाश्वेता देवी अध्यक्ष चुनी गईं तो हिंदी का संयोजक कौन होगा? चर्चा थी कि नामवर जी चाहते हैं संयोजक केदारनाथ सिंह बने. इस बात पर भी नामवर जी और गिरिराज जी में ठन गई थी. जिन दिन चुनाव हो रहा था उस दिन रवींद्र भवन के परिसर में, जहां साहित्य अकादेमी का कार्यालय है, मैं भी मौजूद था. 'प्रगतिशील वसुंधा' के तब के संपादक और प्रगतिशील लेखक संघ के तत्कालीन महासचिव (दिवंगत) कमला प्रसाद भी थे. वे चुनावी समर में महाश्वेता और नामवर जी के साथ थे. मैं उनके साथ गपिया रहा था. हिंदी कवि (दिवंगत) भगवत रावत भी वहां उपस्थित थे. उधर से गिरिराज जी आए. कमला जी और उनकी मुलाकात हुई. शुरुआती बात तो सौहार्द्रपूर्ण तरीके से हुई. फिर कमला जी ने उनको अलग ले जाकर कुछ बात की. धीमे-धीमे. पता नहीं उन्होंने क्या कहा पर गिरिराज जी ने जवाब में उनसे जरा जोर से कहा, जिसे मैंने भी सुना—क्या साहित्य अकादेमी पर नामवर सिंह और उनके संबंधियों का ही राज रहेगा? इशारा केदारनाथ सिंह की तरफ था जो नामवर जी के समधी थे. केदार जी एक सर्वप्रिय व्यक्ति थे. अजातशत्रु की तरह. एक बहुत अच्छे कवि. पर हिंदी साहित्य की राजनीति में उनको नामवर जी के साथ मिलाकर ही देखा जाता था.

खैर, चुनाव हुआ. महाश्वेता जी हार गईं और गोपीचंद नारंग जीत गए. यह होना ही था क्योंकि महाश्वेता जी ने चुनाव जीतने के लिए अपनी तरफ से कुछ खास नहीं किया. वे चुनाव में खड़ी तो हुईं पर अपने लिए किसी तरह की लॉबिंग नहीं की. चुनावी कमान उन्होंने नामवर सिंह के हाथों सौंप रखी थी और इसके लिए एक पत्र भी सार्वजनिक किया था. नामवर जी बड़े विद्वान थे इसमें शक नहीं लेकिन वे साहित्य की राजनीति भी करते थे. पर जिस तरह की राजनीति करते थे उसे आजकल 'बोर्डरूम पॉलटिक्स' कहा जाता है. यानी कमरे में बैठकर शतरंजी चाल चलना. वे चुनावी राजनीति में माहिर नहीं थे जबकि नारंग इसमें दक्ष थे. महाश्वेता की हार की यह भी एक बड़ी वजह थी.

नारंग की जीत के बाद गिरिराज जी साहित्य अकादेमी में हिंदी के

संयोजक बन गए. पर इससे यह निष्कर्ष निकालना भी उचित नहीं होगा कि नारंग से उनकी हमेशा पटती रही या वे नारंग के गुट के थे. गिरिराज जी स्वतंत्रचेता थे और इसी कारण आगे चलकर नारंग से उनके मतभेद भी हुए. यह सब हुआ अकादेमी के तत्कालीन प्रशासन में हिंदी के प्रशासकीय प्रभारी/ सहायक सचिव को लेकर. गिरिराज जी का मानना था तत्कालीन सहायक सचिव नाकारा भी हैं और हिंदी के एक प्रकाशक की बेहद स्तरहीन साहित्यिक पत्रिका के संपादक भी बने हुए हैं. गिरिराज जी का कहना था यह काम वे सहायक सचिव बिना साहित्य अकादेमी की अनुमति लिए बिना कर रहे हैं, इसलिए कम से कम उनको अकादेमी से नहीं तो प्रशासकीय जिम्मेदारी से हटाया जाए. लेकिन नारंग इसके लिए तैयार नहीं हुए. तब गिरिराज जी ने अकादेमी के कार्यक्रमों में आना लगभग बंद-सा कर दिया. अपने संयोजकीय कार्यकाल के आखिर बरस में. उन्होंने मुझसे ऐसा ही कहा था.

साहित्य अकादेमी में बतौर हिंदी संयोजक गिरिराज किशोर का कार्यकाल इसलिए भी याद रखा जाएगा कि कमलेश्वर, मनोहरश्याम जोशी और वीरेन डंगवाल को उस दौरान साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिले. शायद नारंग का पूरा सहयोग मिला होता तो हिंदी के लिए वहां कुछ और बड़ा कर पाते. पर अकादेमी की राजनीति में अध्यक्ष काफी ताकतवर होता है और वो संयोजक को सहयोग न दे तो संबधित भाषा में रूटीन के काम के अलावा कुछ खास नहीं होता. गिरिराज जी बाद में निजी बातचीत में नारंग के खिलाफ बोलते रहे.

हिंदी साहित्य गिरिराज किशोर को कैसे याद करेगा? बेशक एक अच्छे कहानीकार और उपन्यासकार के रूप में. पर इससे भी अधिक महात्मा गांधी की स्मृति को आगे बढ़ाने के लिए. उन्होंने गांधी जीवन से संबंधित दो उपन्यास लिखे- ‘पहला गिरमिटिया’ और ‘बा’. ‘बा’ कस्तूरबा गांधी पर केंद्रित है. गिरिराज जी के दोनों उपन्यास कितने महत्त्वपूर्ण हैं इसका आकलन इस बात से भी होना चाहिए कि आज जिस तरह गांधी जी के जीवन और विचारों का हनन करने का प्रयास हो रहा है उसमें इन उपन्यासों की क्या भूमिका हो सकती है. यह ध्यान में रखना चाहिए कि गिरिराज जी ने यह काम आज के माहौल से कई साल पहले किया. आजादी की लड़ाई के दौरान वैसे तो गांधी को केंद्र में रखकर हिंदी में काफी कुछ लिया पर बाद में वो सिलसिला रुक-सा गया. गिरिराज जी ने इस रुके हुए सिलसिले को आगे बढ़ाया. इसी कारण उनके ये दोनों उपन्यास साहित्यिक के अलावा वैचारिक अहमियत भी रखते हैं. गांधी-विचार कोई व्यक्ति केंद्रित-विचार नहीं है. ये पूरी मानवता और प्रकृति को बचाने का विचार है. इसी कारण हिंदी और दूसरी भाषाओं के साहित्य के पाठकों के लिए गिरिराज जी का लेखन एक सार्वजनीन व सार्वकालिक संदर्भ-स्रोत रहेगा.

❐

संपर्क : tripathyravindra@gmail.com

हंस के एजेंट बनें

आपके शहर में भी हंस सुगमता से उपलब्ध हो इसके लिए आप हंस की एजेंसी प्राप्त कर सकते हैं.

वीपीपी द्वारा हंस (25 प्रतिशत छूट लेते हुए) मंगवाने के लिए अपना ऑर्डर अग्रिम भिजवाएं. डाकघर में प्रस्तुत करने के लिए ऑर्डर की यह प्रति अनिवार्य है. ऑर्डर के लिए लिखें या संपर्क करें :

अक्षर प्रकाशन प्रा. लि.
2/36, अंसारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-110002
दूरभाष : 23270377, 41050047
मो. : 9810786725, 9871809592
ईमेल : editorhans@gmail.com
वेबसाइट : www.hanshindimagazine.in

आग्रह

• **हंस** के जिन सदस्यों का वार्षिक शुल्क खत्म हो गया है या होने जा रहा है वे कृपया अपना शुल्क शीघ्र भिजवाएं. चैक अक्षर प्रकाशन प्रा.लि. (Akshar Prakashan Pvt.Ltd.) के नाम से हो. पत्र/राशि भेजते समय अपनी सदस्यता संख्या लिखें या नई/पुरानी सदस्यता एवं ईमेल का उल्लेख अवश्य करें ताकि किसी भी प्रकार के दोहराव से बचा जा सके.

• सदस्यता राशि बैंक में जमा करते समय कार्यालय को अवश्य सूचित करें.

• डाक से हंस को भेजी जाने वाली प्रत्येक रचना में अपना नाम/पता/दूरभाष/ईमेल स्पष्ट अक्षरों में लिखें. लिफाफे के बाहर रचना-विधा का उल्लेख करें. रचना के साथ डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य संलग्न करें एवं रचना की एक प्रति अपने पास सुरक्षित रखें. छोटी रचना के लिए पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं है.

• रेतघड़ी/रपट/अपना मोर्चा (पत्र) की शब्द संख्या अधिक न हो ताकि अधिक से अधिक लोगों को उचित स्थान दिया जा सके. रेतघड़ी की रपट के लिए शब्द-सीमा 500 की हो तो हमें सुविधा होगी. **–वीना उनियाल**

मौत के पार होना जीवन का

अल्पना मिश्र

न हन्यते

इस दुनिया का सबसे बड़ा सच है मृत्यु, जिससे टकराया जा सकता है पर टाला नहीं जा सकता. इसी का प्रतिकार करती है सर्जना—मृत्यु के पार जाने की, उसे लांघने की बेहद मानवीय कोशिश. दुनिया के तमाम महान रचनाकारों के यहां मृत्युबोध गहरे पैठा मिलेगा. प्रेम भारद्वाज के यहां भी इसने अपनी जड़ें जमाई हुई हैं. उनके संपादकीय में यह रह-रहकर कौंध जाता है तो कहानियों में एक दंश की तरह व्यापता है. तारावस्की की फिल्म 'सेक्रीफाइज' के कुछ दृश्य जेहन से नहीं उतरते, काफ्का का 'द स्ट्रेंजर' साथ चलने लगता है, अजनबी वह दुनिया के लिए है कि पूरी दुनिया अजनबी है उसके लिए. वहां शुरुआत ही मृत्यु से होती है, तब यथार्थ से टकराता, लहूलुहान होता एक व्यक्तित्व मुझे अपने सामने खड़ा मिलता है—प्रेम भारद्वाज. आंखें नीचे झुकाए सोचता सा व्यक्तित्व—गुनता-बुनता—अपने आप से झगड़ता—बेचैनी और जद्दोजहद में घिरा.

'सब मर जाई सबद नहीं मरता' यह ध्वनि भर नहीं है, सबसे बड़े सच के सामने डटा एक दूसरा विराट सच है—सच के बरक्स सच. एक दुनिया के बरक्स दूसरी दुनिया. शायद यही है विश्वामित्र का दूसरा स्वर्ग, जिसे निर्मित करना पड़ता है. जिसके निर्माण में खून पसीने, बुद्धि और विवेक, आंख और प्राण सब खर्च करना होता है—'हृदयेनापराजितः', होना पड़ता है. दुनिया के स्वार्थ के आगे 'हार न मानने' के प्रण को लहू से सींचना पड़ता है. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'कुटज' याद आता है—'अकुतोभया वृत्ति'. अपने आखिरी दिनों में प्रेम जी ने बार-बार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को याद किया. उनकी सहनशीलता, विवेक, बड़प्पन और विद्वत्ता और सबसे बढ़कर 'कुटज' के मार्फत वे जो कह गए, उस सबके कायल हुए. वे कहते कि अब समझ में ज्यादा आते हैं द्विवेदी जी.

प्रेम भारद्वाज

सोचा नहीं था एक दिन यह सब प्रेम जी के संदर्भ में लिखना होगा. उनसे पहली बार मेरी बात तब हुई, जब मैं देहरादून में थी. 2009 का कोई दिन था और प्रेम जी की गहरी गंभीर आवाज में 'पाखी परिचर्चा' के लिए बुलावा था. कहा कि परिचर्चा कहानी पर केंद्रित कर रहे हैं, निर्मला जैन, ममता कालिया, मैत्रेयी पुष्पा होंगी. लेकिन उस परिचर्चा में मेरा जाना नहीं हो सका था. उसके बाद मैं दिल्ली आ गई. दिल्ली कोई बसने के लिए नहीं आता. जीवन उसे लेकर आता है- मुझे नौकरी ले आई. प्रेम जी पाखी के लिए कहानी मांगते. पर मैं कहानी नहीं दे पा रही थी. एक कहानी तैयार हुई तो सोचा पाखी को कहानी न दे पाने के बोध से मुक्त हो जाऊंगी और अभी कहानी तैयार होने की सूचना देती कि पता चला प्रेम जी बीमार हैं. तेज बुखार में पड़े हैं, उठकर खड़े भी नहीं हो पा रहे, पानी तक नहीं पी पा रहे, दवा नहीं, डॉक्टर नहीं.

मैं विश्वविद्यालय से लौट रही थी, लेकिन तुरंत निर्णय लेना था. ढूंढ़ते-ढांढ़ते किसी तरह उनके घर पहुंचे. ड्राइवर ने सीढ़ियों से किसी तरह उतारकर उन्हें गाड़ी में बैठाया और फिर मलिक नर्सिंग होम की यात्रा शुरू हुई. यहीं से प्रेम जी के यातनापूर्ण जीवन का वैभव साफ दिखने लगा. विपन्नता के जो किस्से अब तक हम किताबों में पढ़ते रहे थे, वैसी दारूण विपन्नता को मैंने अपने निकट पहली बार देखा. एक छोटी सी घटना ने मुझे भीतर तक हिला दिया—प्रेम जी बीमार थे और पेन नहीं था. फोन आया कि ''आप आ रही हैं तो पेन लेते आइएगा. दस रुपए का पैकेट आता है, जिसमें दस कलम होती है. कलम नहीं है, पेंसिल भी टूट गई है.'' एक लेखक ऐसा कह रहा था. संवेदनशील लोगों का हृदय फट जाना चाहिए. न जाने साहित्य समाज किस संवेदनशीलता का हवाला देता रहता है!

प्रेम जी आदर बहुत देते. पुरुषों की दुनिया में स्त्री को इतना आदर और वैचारिक स्पेस देना कम ही होता है. सलाह-मशविरे के योग्य समझना भी कम मिलता है. हमारे समाज ने स्त्री की बौद्धिकता को विरले ही स्वीकारा है. कम से कम प्रेम जी में यह नहीं था, उनमें बौद्धिकता की कद्र थी. बौद्धिकता के मामले में स्त्री और पुरुष दोनों का सम्मान करते.

जनतांत्रिक स्पेस बहुत था, बहसें किन्हीं मुद्दों पर हो जातीं तो उसके लिए भी जगह

थी, असहमति के लिए स्पेस था तो भरोसा किए जाने लायक जगह भी थी. असहमतियां और वैचारिक टकराहटें हिंसा और उथलेपन से भरे समय में हमारे बचे होने की पहचान भी हैं.

प्रेम जी बार-बार बीमार पड़ते, कभी निमोनिया, कभी चिकनगुनिया, कभी आंख का ऑपरेशन, कभी दांत का डॉक्टर. कभी एक्सरे, कभी ईसीजी, ब्लड टेस्ट, कभी कुछ. ..पर भीतर गहरे धंसी बीमारी ने अपनी भनक न लगने दी.

कभी प्रेम जी ने अपनी एक कहानी में लिखा था–

''आदमी बीमार है या समय ही बीमार हो गया है, जिसकी नब्ज पर हाथ रखने वाला कोई नहीं....समय का अर्थ इस देश से भी लिया जा सकता है. देश की सेहत बहुत अच्छी नहीं है, वह किसी अस्पताल, किसी ट्रामा सेंटर, बिस्तर पर नहीं पड़ा है, मगर है बीमार–इस देश में कोई चीज अपनी जगह पर नहीं. रोटी चाहिए, वह नहीं. इंसाफ की सांसें फूल रही हैं, ईमानदारी कोमा में, सच्चाई को कैंसर हो गया है–मौत का कोई भी पल हो सकता है.''

अपने समय का यह आकलन उनकी गंभीर और पैनी दृष्टि का परिचायक है. यह समय हिंदी साहित्यिक पत्रकारिता का संकटपूर्ण समय भी है. एक व्यक्ति जो खुद ही आर्थिक संकट से जूझ रहा है, किस मुश्किल से पत्रिका के संकट को कम कर पाएगा. प्रेम जी अपना प्राण-पण पत्रिका को बचा ले जाने में लगाए हुए थे. बीमारी में भी उनका हौसला 'चिराग को आफताब बना' ले जाने का था. साहस उनमें कूट-कूटकर भरा था. 'पाखी' को उन्होंने बड़ी ऊंचाई दी. साहित्यिक पत्रिकाओं के बीच पत्रिका को स्तरीय बनाए रखा. अपने संपादकीय उन्होंने आत्मा की स्याही में उड़ेलकर लिखे. अधिकांश लोग उनके संपादकीय के कारण पाखी पढ़ते. पाखी के संघर्ष के दिनों को उन्होंने अपनी डायरी में विस्तार से लिखा है. यह डायरी वे अपनी बीमारी के दौरान अहमदाबाद में लिख रहे थे. कभी कभी फोन पर इसकी चर्चा करते या कुछ हिस्सा पढ़कर सुनाते.

तनाव भी उनके साथ सहजात रिश्ता बनाए हुए था. नौकरी में कई सालों से तनख्वाह नहीं मिल रही थी, पर एक कवच था, जो पाखी से निकाले जाने पर टूट गया. त्रिपाठी जी प्रकरण में बहुत घायल हुए. लिंचिंग की गई, अपमानित हुए, दुष्प्रचार और अपनों के विश्वासघात के शिकार हुए.

मुझ पर भी बहुत तरह से आक्रमण किए गए, धमकियां मिलीं, शुभचिंतकों ने चेताया कि प्रेम जी से अपना सहयोग हटा लूं. धन्य हैं शुभचिंतक!

मेरे पति कर्नल मिश्रा के मन से साहित्य के प्रति श्रद्धा का दर्पण टूट गया. पर वे प्रेम जी के लिए सदय बने रहे. इसका एक बड़ा कारण प्रेम जी का ईमानदार व्यक्तित्व था. जैसे ही उन्होंने प्रेम जी के कैंसर के बारे में सुना उनके मुंह से पहला वाक्य निकला–''अरे, यह तो बड़ा बुरा हुआ. तुरंत पचास हजार भेजो.''

प्रेम जी से मेरा नाता करुणा का बना. साहित्य में ऐसी मानवीय करुणा का नाता गौतम बुद्ध से विस्तार लेता महादेवी वर्मा तक चला आता है. यही मैंने परंपरा से सीखा-जाना था. साहस, संघर्ष और जिजीविषा खानदान से चले आते डी.एन.ए. का हिस्सा हैं. 'छोटे मन से बड़ा काम नहीं होता' यह वाक्य जीवन का अविभाज्य अंग शायद इसीलिए बना रहा.

प्रेम जी ने फिर से 'कुटज' पढ़ा और मुझे फोन किया और उसका एक हिस्सा पढ़ कर सुनाया–यहां केवल आचार्य द्विवेदी की पीड़ा नहीं बोल रही थी, प्रेम जी की पीड़ा को भी स्वर मिल रहा था. उस हिस्से को फिर फेसबुक पर लगाया–''कुटज क्या केवल जी रहा है? वह दूसरे के द्वार पर भीख मांगने नहीं जाता, कोई निकट आ गया तो भय के मारे अधमरा नहीं हो जाता, नीति और धर्म का उपदेश नहीं देता फिरता, अपनी उन्नति के लिए अफसरों का जूता नहीं चाटता फिरता–जीता है और शान से जीता है–स्वार्थ के दायरे से बाहर की बात है.–हार मत मानो!''

मनीषियों ने कहा है कि 'असहमतियों से नए विचार का रास्ता खुलता है.' भारतीय वाङ्मय भी कहता है 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः'. किंतु हमारे समाज ने असहमतियों को दुश्मन मान लिया है. वह नवोन्मेष को पनपने ही नहीं देना चाहता. जी हजूरी और चाटुकारिता का सर्वोच्च काल. साहित्य में चारण और भाटों को भी मात देने वाले दृश्य चारों तरफ से घेरे हुए हैं. जेनुइन आदमी हो या जेनुइन रचनाकार किनारे खड़ा परेशान है, चिंतित है, टकराता है तो लहूलुहान होता है, चीखता है तो दम घुटता है, रोता है तो लाचार मान लिया जाता है.

पास्तरनाक ने कहा था, ''जीवन खेत पार करना नहीं है. जो हम पार कर रहे होते हैं, वह समय है.'' प्रेम जी ने भी जो पार किया, वह समय था. इस समय की समझ भी उनमें थी और उसे पहचान कर उसकी नब्ज पर हाथ धर देने का कौशल भी उनके पास था. अपने संपादकीयों में उन्होंने लगातार सामयिक और जरूरी सवाल उठाए.

यह हिंदी समाज का पिछड़ापन है कि वह अक्सर ही अपने बड़े लेखकों, संपादकों की कद्र नहीं कर पाता. बल्कि उन्हें अपमान, तिरस्कार, उपेक्षा, बहिष्कार के यातनागृह में ढकेलता है. उन्हें कुचल कर स्वार्थ के भवन खड़ा कर लेना चाहता है. लेकिन अपराजेय जीवनी शक्ति हार नहीं मानती. सत्य का

साहस तेजस्वी होता है.

दुनियाभर की परेशानियों से घिरे होने के बावजूद 'भवन्ति' निकालने का हौंसला अद्‌भुत था. पहला अंक संग्रहणीय बना. नियति को उनकी यह सफलता सहन न हुई और दूसरे अंक से पहले ही वे गंभीर रूप से बीमार पड़ गए. इस बार मलिक नर्सिंग होम काम नहीं आया—हिस्से में आया मेट्रो हास्पिटल का लंग एंड कैंसर सेंटर. इलाज के लिए अहमदाबाद जाना पड़ा. जब दिल्ली से जा रहे थे तब भी 'भवन्ति' के दूसरे अंक की चिंता कर रहे थे. जाते हुए कातर भाव से दोनों हाथ जोड़कर बोले—''भवन्ति को संभाल लीजिएगा.''

इस भरोसे की लाज रखना जरूरी हो गया मेरे लिए. मैंने कभी किसी पत्रिका का संपादन नहीं किया था. कुछ रूपरेखा प्रेम जी बना गए थे. कुछ सामग्री तय कर गए थे. लेकिन बहुत जगह निर्णय भी लेने पड़े. यह एक अलग अनुभव था. बहुतों ने इसे निकालने में मेरा साथ दिया. वरिष्ठ कवि के कॉलम हेतु मंगलेश डबराल जी से कविताएं मांगीं तो उन्होंने तुरंत भेज दीं और टिप्पणी भी लिख दी. पहली बार मैं प्रेस में पत्रिका लेने गई. पहली बार पत्रिका के साथ जुड़ी मुश्किलों को निकट से जाना. दूसरे अंक के प्रकाशित होने की खबर से प्रेम जी अह्लादित थे. पर 'भवन्ति' की अनेक यात्राएं देखने के लिए वे नहीं रुक सके.

दुख के साथ फैज की पंक्तियां कौंधती हैं—

''वो हमीं थे जिनके लिबास पर सर,
राह स्याही लिखी गई.

यही दाग थे जो सजा के हम सर,
बज्म, यार चले गए..

❒

संपर्क : ए1/804, ऑलिव काउंटी, सेक्टर-5, वसुंधरा, गाजियाबाद, उ.प्र. पिन-201012
मो. : 9911378341
ईमेल : alpana.mishra@yahoo.co.in

लघुकथा

एक आदर्श : एक जुनून

विरेंदर कुमार मेहता

"मैं मानती हूं डॉक्टर, कि ये उन पत्थरबाजों के परिवार का ही हिस्सा हैं जिनका शिकार हमारे फौजी आए दिन होते हैं लेकिन सिर्फ इसी वजह से इन्हें अपने 'पढ़ाई-कढ़ाई सेंटर' में न रखना, क्या इनके साथ ज्यादती नहीं होगी?" हजारों मील दूर से 'घाटी' में आकर अशिक्षित और आर्थिक रूप से कमजोर औरतों के लिये 'हेल्प सेंटर' चलाने वाली समायरा, 'आर्मी डॉक्टर' की बात पर अपनी असहमति जता रही थी.

"ये तुम्हारा फालतू का आदर्शवाद है समायरा, और कुछ नहीं." डॉक्टर मुस्कराने लगा. "तुमने शायद देखा नहीं है पत्थरबाजों की चोट से जख्मी जवानों और उनके दर्द को, अगर देखा होता तो...!"

"हां नहीं देखा मैंने!" समायरा ने उनकी बात बीच में काट दी. "क्योंकि देखना सिर्फ आक्रोश पैदा करता है, बदले की भावना भरता है मन में."

"तो तुम्हें क्या लगता है कि हमारे फौजी जख्मी होते रहें और हम माफी देकर उनका दुस्साहस बढ़ाते रहें."

"नहीं, मैं भी चाहती हूं कि उन्हें सख्त सजा मिले ताकि वे आइंदा ऐसा करने की हिम्मत न करें. लेकिन ये सब तो कानून के दायरे की बातें हैं और मैं नहीं समझती कि इस सजा में उनके परिवार को भागीदार बना देना उचित है डॉक्टर." समायरा की नजरों में एक चमक उभरी आई.

"यानी कि आप दुश्मनों का साथ देना चाहती हैं!" डॉक्टर की बात में एक व्यंग्य झलक आया.

"डॉक्टर, हमारे दुश्मन ये भटके हुए लोग या इनके परिवार वाले नहीं हैं. हमारी दुश्मन तो सदियों से इनके विचारों में पैठ बनाए बैठी नफरत और निरक्षरता की अंधेरी रातें हैं, हमें इसी रात को सुबह में बदलना है." वह गंभीर हो गई.

"तो इस फालतू आदर्शवाद को अपना जुनून मानती हैं आप!" डॉक्टर के चेहरे की व्यंग्यात्मक मुस्कान गहरी हो गई.

"नहीं! ये फालतू आदर्शवाद नहीं, जीवन का सच है जो हर युग में और भी अधिक प्रखर होकर सामने आता है."

"अच्छा! और कौन था वह जिसने ये आदर्श दिया तुम्हें." सहसा डॉक्टर खिलखिला उठा.

"एक फौजी था डॉक्टर साहब...!" अनायास ही समायरा भावुक हो गई. "जिसने अपनी मोहब्बत भरी अंगूठी तो मुझे पहना दी थी लेकिन ऐसे ही कुछ पत्थरबाजों के कारण अपनी कसमों का सिंदूर मेरी मांग में भरने कभी नहीं लौट सका था."

डॉक्टर की मुस्कराहट चुप्पी में बदल गई लेकिन समायरा की आंखें अभी भी चमक रही थी.

❒

संपर्क : एफ-62, फ्लैट न.8, गली न. 7, नियर मंगल बाजार, लक्ष्मी नगर, दिल्ली-110098
मो. : 8130607208, 9818675207
ईमेल : v-mehta67@gmail.com

मुकम्मल प्रेम की अधूरी कहानी

गीताश्री

न हन्यते

"कोई अधूरा नहीं होता
और एक नया शुरू होकर
नया अधूरा छूट जाता
शुरू से इतने सारे
कि गिने जाने पर भी छूट जाते
परंतु इस असमाप्त
अधूरे से भरे जीवन को
पूरा माना जाए, अधूरा नहीं
कि जीवन को भरपूर जिया गया
इस भरपूर जीवन में
मृत्यु के ठीक से पहले भी मैं
एक नई कविता शुरू कर सकता हूं
मृत्यु के बहुत पहले की कविता की तरह
जीवन की अपनी पहली कविता की तरह
किसी नए अधूरे को अंतिम न माना जाए"
—विनोद कुमार शुक्ल

इसी बरस की बात है. साल के प्रथम दिन का पहला पोस्ट. संपादक-कथाकार, मेरे समकालीन, मित्र प्रेम भारद्वाज ने विनोद कुमार शुक्ल की कविता का अंश शेयर किया था.

उसके बाद एक महीने की चुप्पी. पता चला कि वे गंभीर रूप से बीमार हैं. अपने रिश्तेदार के यहां अहमदाबाद चले गए हैं. उनसे संपर्क का जरिया टूट गया था. उनके स्वास्थ्य को लेकर चिंताएं बनी हुई थीं. इसलिए सोशल मीडिया पर उनकी प्रोफाइल चेक कर लिया करती थी. कुछ तो कहेंगे. वे किसी मामले में चुप नहीं रहते हैं. लेखन में वे सब कुछ कहते थे. एक लेखक के पास अंत में उसका लेखन ही बचता है जहां वह दहाड़ भी सकता है और विलाप भी

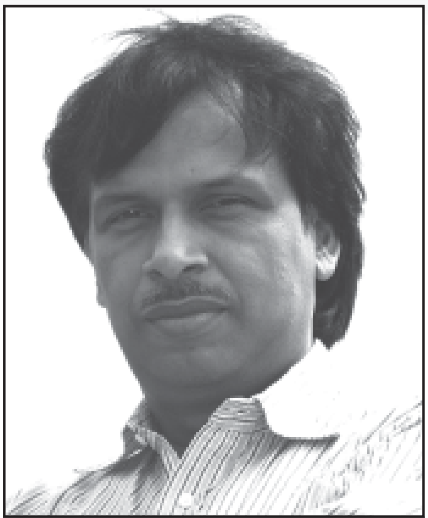

प्रेम भारद्वाज

करता है. प्रेम जी के संपादकीय में ये दोनों तत्व मौजूद हैं. जिन्हें यकीन न हो, वे उन्हें फिर से पढ़ सकते हैं.

लंबे मौन के बाद प्रेम जी सोशल मीडिया पर फिर एक संक्षिप्त-सी अर्ज लेकर. अपनी पत्रिका *भवन्ति* को लेकर वे खासे उत्साहित थे.

14 फरवरी को वे लिखते हैं—*जिंदगी की रोशन राहें.*

"जूलियस फौचिक की अधूरी किताब को पढ़ना जीवन को जी लेना है. इसका अंत कुछ भी हो सकता है. इससे कोई फर्क नहीं पड़ता. फौचिक की यह पुस्तक एक जंग की तरह है. हम जैसों के लिए लड़ने, जीने, झगड़ने, रूठने और तमाम शिकस्त को मात देने का तरीका भी यही है. सोने से पहले अंतिम सांस तक जागते रहने के उद्‌घोष के साथ.

इसके पहले निवेदन है कि अगर गैरजरूरी चीजों की दरकार न हो तो उनसे दूर रहें. वहीं कुछ लोगों ने स्वयं को इतना सुरक्षित कर लिया है कि उनका जीवन भी उन्हें नहीं छूता. जबकि जीवन को छूना चाहिए. इस तरह कि हमारा दम घुटने लगे.

उम्मीद एक जिंदा शब्द है. ताउम्र इस उम्मीद ने ही तो साथ दिया है. मुझे हमेशा ही यह लगता रहा है कि किसी भी परिस्थिति में कुछ भी किया जा सकता है. हिचकियों के बीच जिन्दगी खत्म होने से रही. यह अलग बात है कि हम अपने जीवन में कैद हो कर रह गए हैं.

"मेरा नाम जोकर का अंतराल कुछ ज्यादा बड़ा हो गया है. रुके-रुके से कदम रुक के बार-बार चले. सुबह न आई कई बार नींद से जागे."

इस पोस्ट में *भवन्ति* पत्रिका के बारे में सूचना थी. यह प्रेम जी का आखिरी पोस्ट है. इसी दौरान व्हाट्सैप पर उनका एक संदेशा आया कि दिल्ली आ गया हूं, मिला जाए. मैंने भी जवाब दिया—जल्दी मिलती हूं.

मिलना न हो सका. जबकि हम मिलते थे तो बतकहियों का लंबा दौर चलता था. मैं योजना बनाती रह गई. पता चला कि वे फिर से बीमार हो गए हैं और वापस अहमदाबाद चले गए हैं. वहां से उनकी खबरें आती रहीं. उन्हें फोन करने की मनाही थी. न फोन न मैसेज. उनके पारिवारिक मित्रों से मिलने वाली सूचनाओं पर हमें निर्भर रहना पड़ा.

और एक दिन गंभीर हालत में उनको अस्पताल में भर्ती कराने की खबर आई. हम सबके बीच आशंकाएं गहराने लगीं. उम्मीदें बची रहती हैं. दुआएं थीं कि उम्मीद देती रही—वे पहले की तरह बीमारी से लड़कर लौट आएंगे. आते ही दोस्तों से संवाद करेंगे. पत्रिका की सूचना देंगे. सबको मैसेज करेंगे.

"दिल्ली लौट आया हूं...मिला जाए."

अब कोई संदेश नहीं आएगा. वे कभी

नहीं लौटेंगे. यकीन नहीं होता कि मोबाइल स्क्रीन पर कभी उनका मैसेज या फोन कॉल्स की चमक आएगी. वे जा चुके बहुत दूर...जहां से कोई नहीं आता. अपने पीछे वे इतना सन्नाटा छोड़ जाएंगे कि हमें संभलने में मुद्दत लगेगी. अपने समकालीन पर, अपने प्रिय मित्र पर शोकांतिका लिखना कितना कठिन हो सकता है, लिखते हुए अहसास हो रहा है. कीबोर्ड पर उंगलियां कांप रही हैं. आंखें सजल हैं. कंठ में कुछ अटक-सा गया है. अब तक सारे विलाप रोक कर रखे थे. पीड़ा इतनी ज्यादा थी कि एक पोस्ट तक न लिख सके. अपने को झुठलाते रहे. बहलाते रहे. मृत्यु का सच कहां छुपता है. लिखना तो पड़ा ही.

अपने को तैयार करने में वक्त लगा. क्या लिखा जाए, कहां से शुरू किया जाए. किस तरह याद करूं. किन-किन रूपों में. उनकी अच्छाइयां, उनकी कमियां, उनकी शरारतें, उनके अनूठेपन को, उनकी यारियों को, उनके हरेक रूप को..किस तरह याद करूं. कागज पर उतरने से पहले शब्द आंखों में झिलमिलाते हैं.

किसी का न होना इतना विगलित कर सकता है क्या भला. कुछ जोड़ता था हमें. शब्दों और भावों के पुल पर चलते हुए हम यारियां निभाते रहे. झगड़ते रहे, असहमतियां जताते रहे, कोसते रहे, सराहते रहे. उनकी बेदिली और बेइमानियों को सहते रहे. ताने उलाहने मारते रहे. उनके लिखे पर रीझते रहे. उनके साथ बैठकर दुनिया भर की बातें करते रहे, हंसते रहे. कुछ भी कह देते थे, उन्हें छेड़ते थे. वे सुनते थे, हंसते थे.

अब कहां होंगी वे गप्प गोष्ठियां. दुनिया जहान की बातें. एक-एक करके वे लोग चले जा रहे, जिनसे आप खुलकर कुछ भी कह सुन सकते थे.

उनका जाना, साहित्य से मानो प्रेम का जाना है. 'पाखी' पत्रिका के पूर्व संपादक, कथाकार प्रेम भारद्वाज की असामयिक मृत्यु ने हम सबको हिलाकर रख दिया है. उनकी जिंदगी में इतना सब कुछ जल्दी-जल्दी घटता चला गया कि जिंदगी से यकीन कुछ कम हुआ. सब कुछ योजनाबद्ध लगा मुझे. जिंदगी तय कर चुकी थी कि पहले उनकी जिंदगी से उनके प्रेम को छीना फिर उन्हें छीन लिया. कुछ ही वर्ष पूर्व उनकी पत्नी लता जी का निधन हुआ था. हम सब बहुत आहत हुए थे. उनकी पत्नी का प्रेम जी के सभी करीबियों से आत्मीय रिश्ता पनप जाता था. प्रेम जी कई बार अपने दोस्तों से उतनी बातें नहीं करते थे जितनी लता जी करती थीं. मेरा अनुभव तो यही है. फोन पर उनसे की गई लंबी वार्ताएं आजीवन नहीं भूलेंगी.

उनके निधन का वो दिन याद है मुझे.

कुछ ही महीने पहले उनकी मां गुजर गई थीं. उस दुख से वे उबरे भी नहीं थे कि दुख का एक और पहाड़ टूट पड़ा. वह दृश्य भूलता नहीं कि सामने उनकी पत्नी लता जी चिरनिंद्रा में लेटी थीं, उनके पास में बैठे हुए प्रेम जी टूटे हुए, बिखर रहे थे. जैसे मृत्यु उसी दिन से उनके भीतर पसरने लगी हो. उनका संपादकीय पढ़कर कौन नहीं रोया होगा.

पत्नी की मौत पर ऐसा विलाप कम देखा-पढ़ा गया है. उसके बाद वे पहले वाले प्रेम नहीं रहे. उन पर शोकांतिका लिखने के बाद भी पुरुष होने का बोध और गहराता गया था. लता जी की मौत प्रेम जी के कलेजे को उनके जिस्म से निकाल लेने जैसी थी. हम सब उन्हें समझा रहे थे कि इस सच को स्वीकार कर लीजिए और वे स्वीकारने को तैयार नहीं.

"लता की मौत को मैं किसी रूप में स्वीकार नहीं कर सकता. उसके अलगाव को स्वीकारने का मतलब बहुत बड़ा है. उसके बगैर जीना, भाषा में ही नहीं, जीना ही नहीं है. उसकी मृत्यु ने समय को मेरा शत्रु बना दिया है–जिसे मैं बोलना चाहता हूं, जिसे देखना और सुनना चाहता हूं, जो लिखना चाहता हूं. मैं वह कुछ नहीं कर पा रहा हूं जो करना चाहता हूं."

"एक दीया था. उसकी ज्योति थी, हवा के झोंके से बुझ गई. उस गुम ज्योति को ढूंढने की एक पागल कोशिश कर रहा हूं."

समूचा साहित्य जगत उनकी मृत्यु को स्वीकारने को तैयार नहीं. उसी ज्योति की तरह उन्हें ढूंढने की कोशिश हो रही है. सबके पास उनकी स्मृतियां हैं. सबके साथ, उन्हीं की तरह रहे.

वे जब तक जीते रहे, कम जिए, अपने जीवन की उसी ज्योति की तलाश में रहे. वह दुख उनके भीतर ऐसा पैठ गया कि रोग बन गया. शोक बहुत गहरा हो तो रोग बन जाता है. पलने लगता है, रक्त मज्जा में. पता नहीं चलता, हम बाहर बाहर बेसुधि में जीते चले जाते हैं, भीतर-भीतर शोक का वायरस कुतरता चला जाता है. ऐसा नहीं होता तो क्या यह उम्र थी उनके जाने की. इतनी जल्दी कोई मरता है क्या. उन्हें तो बहुत काम करने थे. एक पत्रिका को ऊंचाई तक पहुंचाना था. अधूरा उपन्यास पूरा करना था. कई कहानियां होंगी जिन्हें एकत्र करना था. जिंदगी के तजुर्बे दर्ज करने थे. और सबसे बढ़कर खूब जीना था. उसी ज्योति की तलाश में. यही तो प्रेम है. वे प्रेम में गहरे डूबे हुए गोताखोर थे. उनकी भाषा में उनका दर्द फूटता था. अपनी सारी भावात्मक शक्ति समेटकर मानो वे 'पाखी' पत्रिका का संपादकीय लिखा करते थे. सच कहे तो पत्रिका की यू.एस.पी. (विशेषता) प्रेम जी का संपादकीय होता था. मुझे याद है, हंस के संपादक राजेन्द्र यादव कहा करते थे– दुनिया मेरे संपादकीय का इंतजार करती है, मैं प्रेम के संपादकीय का इंतजार करता हूं...कमाल लिखता है.

प्रेम जी को ये बात मालूम थी. हम उनका उत्साह बढ़ाते हुए उन्हें याद दिलाते थे. कभी ऐसा न हुआ होगा कि उनका संपादकीय पढ़कर मैंने उन्हें फोन न किया हो. कई बार रहा नहीं जाता था तो हम उसे सोशल मीडिया पर शेयर करते कोट करते थे.

स्वभाव से वे शरारती भी थे. उनकी शरारतों के अनेक प्रसंग हैं. संपादकीय की बात चली तो याद आया. एक बार मेरी उनसे कथा में बोल्ड प्रसंगों को लेकर खूब बहस हुई. वे इसके खिलाफ नहीं थे. बस

वे बहस करना चाहते थे कि स्त्रियां आखिर लेखन में यकबयक कैसे साहसी हो गई हैं और बेखौफ लिख रही हैं. उनकी सोच क्या है, उनकी मानसिकता क्या है. उन्हीं दिनों 'तहलका' में एक स्त्री आलोचक का एक आलोचनात्मक लेख बहुत लोकप्रिय हुआ था. प्रेम जी अच्छे 'लिसनर' भी थे.

वे हम सबके प्रेम जी थे. कोई नफरत से भी पुकारना चाहे तो प्रेम ही बोलेगा. उन्हें उनके नाम और उनके भावों से अलगाना बहुत कठिन था. दोस्तों के लिए आकंठ प्रेमिल दोस्त थे. दोस्ती का निर्वाह करते थे, मगर अपनी शर्तो पर. यानी अपने विवेक और समझ को गिरवी रखकर नहीं.

मुझे याद नहीं कि कभी उन्होंने किसी की झूठी प्रशंसा की हो. बाद के दिनों में वे जरूर बदल गए थे. प्रेम जी हमेशा रसूल हमजातोव को कोट करते थे. लगभग जुमले की तरह. जब वे कहानियों पर बोल रहे होते तो कहते कि एक होती है आंख और एक होती है दृष्टि. कथा में आंख और दृष्टि का ध्यान रखना चाहिए. कथाकार जो देखते हैं, उसी को दर्ज कर देना कथा नहीं. उसमें कथाकार की दृष्टि जरूरी है.

इतना कहकर बात को वे घुमा देते. मैंने अनेक कथाकारों पर उन्हें बोलते हुए सुना है. यह उनका प्रिय कोट था.

दरअसल जब वे ऐसा बोल रहे होते थे तो कहीं न कहीं कथाकार को यह अहसास करा रहे होते थे कि कथा में घटनाएं नहीं, विवरण नहीं, विजन महत्त्वपूर्ण होता है. आप कथा में क्या विचार देते हैं, रसूल के माध्यम से वे इस ओर संकेत करते थे. शोधग्रस्त, सतही लेखन को लेकर वे चिंतित रहा करते थे.

प्रेम जी न केवल संपादक, कथाकार के रूप में बेजोड़ थे, बल्कि आलोचकीय गुणों से भरपूर थे. खरी-खरी आलोचना करने में दक्ष थे. अपने प्रति भी निर्मम थे. वे कहा करते थे कि आप मेरी रचनाओं की कमियों पर गौर करें. सिर्फ प्रशंसा आपको कहीं नहीं पहुंचाती. इसीलिए मैंने उन्हें किसी की बहुत प्रशंसा करते नहीं देखा. वे सराहते हुए कुछ न कुछ कमी निकालते थे. हालांकि पिछले कुछ वर्षों में उन पर कई आरोप लगे. किसी खास साहित्यकार को बढ़ावा देने को लेकर. इसके लिखित प्रमाण भी मिलते हैं. उन पर संपादकीय लिखने से लेकर, साक्षात्कार तक में वे आलोचक कम, प्रशंसक ज्यादा नजर आए. यह बदलाव गौरतलब है. इस बारे में उनसे बातें हुई थीं. वे अपनी प्रशंसा को जस्टिफाई करते थे. किसी को भी इतनी छूट तो होनी चाहिए कि वह अपनी राय बनाने को स्वतंत्र हो. लेकिन जब वह राय किसी विधा पर थोपी जाए तो आपत्ति और विवाद होना स्वाभाविक है. लेकिन वे पूरी तरह बेइमान नहीं हुए थे. अखबार में उनका एक लेख पढ़ें तो उनकी ईमानदारी का पता चलता है. साल भर की चर्चित किताबों, लेखकों पर भरपूर उदारता से लिखा है. चाहे वो कोई हो, कितना बड़ा भी नाम क्यों न हो. किसी को नहीं छोड़ा है. जबकि साल भर का लेखा-जोखा कई साहित्यकार लिखते रहे हैं. सब लोग अपने प्रिय लेखकों, दोस्तों, कृपापात्रों, चापलूस चेलों का चयन करते हैं, उन्हीं पर लिखते हैं. बाकी जेनुइन को छोड़ देते हैं. उनके लेखों में राग द्वेष भरपूर होता है. बड़े-बड़े लेखक ऐसा करते हैं. यकीन न हो तो कोई अखबार उठा कर देख लें. इस मायने में प्रेम जी बेहद सुलझे हुए, ईमानदार दिखाई देते हैं.

अंतत वे एक मनुष्य थे. पत्रकार थे, लेखक थे, संपादक थे जिन्हें एक उम्र जीना चाहिए था. खूब लिखना चाहिए था. कथा की पीढ़ियां तैयार करनी थीं, संपादन करना था. संपादकीय लिख लिखकर पाठकों का कलेजा निकाल लेना था. संपादकीय लिखते समय वे किसी और लोक में चले जाते होंगे. न भूतो न भविष्यति. कौन लिखेगा ऐसा. पीढ़ियां तैयार करने वाले योद्धा संपादकों की अंतिम कड़ी थे वे, वह टूट गई.

वैसा संपादकीय कहां पढ़ने को मिलेगा. शोकग्रस्तता में ऐसा सोचना लाजिमी है. अपनी पत्नी के शोक में उन्होंने लिखा था—

"मैं उसके 'होने' से ज्यादा उसके 'न होने' को प्रेम कर रहा हूं...अस्तित्व के बनिस्पत स्मृति को. उसको खोने पर उसके 'होने' की अहमियत जानी."

हिंदी की दुनिया प्रेम जी के लिए यही कहना चाहती है. वे सदा होंगे—अपनी कहानियों में, अपने लेखों में, मित्रों और पाठकों की स्मृतियों में, जो उनके 'न होने' पर भी उनसे उतना ही प्रेम करेंगे.

आखिर साहित्य जगत के प्रेम और प्रेमी दोनों थे वे. प्रेम का कभी क्षय नहीं होता.

❐

ईमेल : geetashri31@gmail.com

'कथादेश'
पुरस्कृत लघुकथाएँ
संपादक
हरिनारायण
सुकेश साहनी

लघुकथा लेखकों/पाठकों के लिए जरूरी किताब। 2006 से कथादेश में पुरस्कृत लघुकथाएँ पहली बार एक ही जिल्द में

amazon Flipkart

नयी किताब प्रकाशन समूह
1/11829 पंचशील गार्डन नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 | 16, शांतिमोहन हाउस, द्वितीय तल अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-110002
011-22825606, 22824606, 9811388579, 9971895162
E-mail : nayeekitab@gmail.com, prakashananaya@gmail.com
Website : www.nayeekitab.com

कहानी

बेसमेंट

•

संतोष दीक्षित

बेसमेंट में अंधेरा और घना हो गया था.

पीछे की दीवार में जो एक बड़ा-सा, कलात्मक रोशनदान था, पिछले हिस्से में नवनिर्माण के चलते वह मुंद गया था. बेसमेंट में अब कई बल्व और ट्यूबलाइट जलने लगे थे. आंखें चौंधिया जाती हैं अब यहां, लेकिन आंखों को आरामदायक सुकून का अहसास कराने वाला वह प्राकृतिक उजास गायब हो चुका था.

बेसमेंट में अपनी कुर्सी पर बैठे रवि के भीतर एक अव्यक्त किस्म का सन्नाटा भांय-भांय कर रहा था, जबकि आधुनिक स्थापत्य के नमूने के तौर पर सराही जाने वाली संस्था के भवन के किसी भी कमरे में दिन के भरपूर उजाले के बीच खूब चहल पहल मची रहती. अब तो कई बड़े अधिकारियों के बाल बच्चे तक संस्था को सुशोभित करने लगे थे. वरना संस्था के आसपास की गंदी बस्तियों के बच्चे ही ज़्यादातर यहां धमाचौकड़ी मचाए रहते. हर दूसरे-तीसरे दिन संस्था की उपलब्धियों से हिंदी अखबार रंगे रहते. संस्था दिन दूनी, रात चौगुनी तरक़्क़ी करती जा रही थी. फिर भी इसकी सबसे ऊपरी मंजिल से अभी भी वही पुराने आदेश जारी होते रहते.

''आप जाइए और बेसमेंट में बैठने वाले रवि जी से बात कर लें, वही सब कुछ तय करेंगे.''

बेचारा सप्लायर समझ जाता कि उसे किस घाघ के पास भेजा जा रहा है. हर दफ़्तर में ऐसे कुछ घाघ होते हैं जो ऊपर वालों के लिए सारी शर्तें तय करते हैं.

सप्लायर अपने तमाम कागजातों के साथ रवि बाबू के आगे हाथ जोड़े, मुंह चियारे खड़ा हो जाता है.

''हूंउउ...तो शीला मैम ने भेजा है. क्या डायरेक्टर मैम से नहीं मिले?''

''जी नहीं हुजूर. मैं तो शीला मैम के फोन पर ही आया हूं. अभी नया-नया सप्लाई का काम शुरू किया है. पांच विभागों में संतोषप्रद कार्य कर चुका हूं और इसके पेपर्स भी लगे हुए हैं.''

''ठीक है.'' कह रवि उसकी फाइल में लगे सारे पेपर्स चेक करने लगा और बिंदुवार सारी जानकारियों की सूची सामने वाले को थमाते हुए कहा, ''अब आप ऊपर

जन्म : 10 सितंबर 1959 ग्राम-लालूचक, भागलपुर, बिहार कृतियां : 'आखेट', 'शहर में लछमिनियां, 'ललस', 'ईश्वर का जासूस' एवं 'धूप में सीधी सड़क'. तीन व्यंग्य-संग्रह एवं 'बुलडोजर और दीमक' व्यंग्य कहानी-संग्रह. उपन्यास : 'केलिडोस्कोप', 'घरबदर'.

संपर्क : नील धवल, दुल्ली घाट, दीवान मोहल्ला, पटनासिटी, पटना-800008
मो. : 9334011214
ईमेल : santoshdixit17@gmail.com

जाकर मैम से मिल लें. मैंने आपकी फाइल का सारा ब्यौरा दर्ज़ कर दिया है. उम्मीद है आपको काम मिल जाएगा.''

सप्लायर जिस सोच और चेहरे के साथ आया था, लगभग उसी भाव-भंगिमा, लेकिन काम मिल पाने की प्रत्याशा से अर्जित खुशी के साथ ऊपर तीसरे तल्ले की ओर धड़फड़ सीढ़ियां चढ़ता निकल गया. यह सोचते हुए कि काफी घाघ लोग हैं यहां...इतनी जल्दी खुलने वाले नहीं.

संस्था बच्चों का भविष्य संवारने, उनकी पाठ्येत्तर गतिविधियां बढ़ाने एवं उनके व्यक्तित्व के विकास तथा सुरक्षा के लिए कार्यरत थी और मुख्य रूप से सरकारी अनुदान द्वारा पोषित होती थी. इस संस्था की निगरानी जन शिक्षा निदेशालय द्वारा की जाती थी.

रवि यहीं कार्यरत था. वह शनिवार और रविवार को बच्चों के क्रिएटिव राइटिंग की क्लास लेता. बच्चे कहानी, कविता, नाटक इत्यादि के गूढ़ तत्त्वों से परिचित होते और इन्हें लिखना सीखते. संस्था बाल कवि सम्मेलन, बाल नाटिका और कथा पाठ के जरिए बच्चों को अपनी प्रतिभा दिखाने का मंच प्रदान करती. इसके अलावा मूर्तिकला, चित्रकला, फोटोग्राफी, फिल्म बनाने इत्यादि का प्रशिक्षण भी बच्चों को दिया जाता. सप्ताह के अन्य चार दिन रवि कार्यालय के कामों में सहायता करता. वह सरकारी नियमावलियों का काफी जानकार था. इस कारण उससे विशेषकर वित्तीय कामों में मदद ली जाती जोकि किसी भी कार्यालय का सबसे जोखिम भरा काम माना जाता. यहां चूक होने से फंसने का डर हमेशा रहता. सो सारे कदम फूंक-फूंककर उठाए जाते.

संस्था में करोड़ों का फंड आता. संस्था की युवा एवं आकर्षक महिला निदेशक एक

प्रसिद्ध समाजसेविका के रूप में जानी जाती थी. संस्था की उपनिदेशक राज्य के एक प्रमुख नेता की निस्संतान परित्यक्ता साली थी. उनकी योग्यता भले ही आई.ए. पास की थी लेकिन एक तरह से वह इस संस्थान की सर्वेसर्वा थीं. कार्यालय संबंधी सारे निर्णय वही लेतीं. बच्चों की सारी गतिविधियां उन्हीं की देखरेख में संपन्न होती. निदेशक मैम का काम था संस्था का प्रचार करना और इसकी उपलब्धियों का श्रेय लेना. उन्हें लगातार श्रेयसी होने की अधिकारिणी बनाए रखने की कठिन चुनौती उपनिदेशक के कंधों पर थी.

इस प्रत्यक्ष चुनौती के साथ-साथ एक अप्रत्यक्ष लेकिन अधिक महत्त्वपूर्ण चुनौती और थी. इस महत्त्वपूर्ण चुनौती में निदेशक, उपनिदेशक के साथ-साथ शामिल थी विजयेता सिन्हा. उसे इस कार्यालय में आए अभी मात्र एक वर्ष ही हुआ था लेकिन खतरा उठाने की चुनौती और कार्यालय में भरपूर समय देने की सामर्थ्य रखने वाली विजयेता ने दोनों उच्च महिला अधिकारियों का दिल जीत लिया था. अब तो उसकी गिनती कार्यालय के टॉप थ्री में होने लगी थी. उसकी तनख्वाह भी उसी अनुरूप बढ़ गई थी. वैसे रवि की नजर भी इस पद पर वर्षों से जमी थी. वह विजयेता से सीनियर था लेकिन निदेशक एवं उपनिदेशक की अनुशंसा पर विजयेता को ही योग्यता और कार्य क्षमता के मद्देनजर तरक्की मिली. इसकी भी एक अलग कहानी है.

दरअसल संस्था में हमेशा बच्चों के लिए कुछ इवेंट होते रहते. प्रत्येक इवेंट के लिए अलग से भारी खरीदारी होती. निदेशक को पचास हजार तक का सामान खुद क्रय करने का अधिकार था. इसके आगे पांच लाख तक का क्रय संस्था की ही एक त्रिसदस्यीय कमिटी द्वारा की जाती. इसी प्रक्रिया के तहत करोड़ों के बजट को तोड़ कर इवेंट के मुताबिक खर्च किया जाता.

पहले सारा काम रवि ही संभालता था. बाजार से कोटेशन लाने से लेकर त्रिस्तरीय कमिटी का सबसे जूनियर सदस्य होने तक की जिम्मेवारी भी. रवि के फाइल पर दस्तखत हो जाने भर से ऊपर की दोनों अधिकारी खुद को महफूज समझतीं. लेकिन रवि उन्हें खटकता इस नाते था क्योंकि वह 'कट' में कोई हिस्सा नहीं लेता. यहां तक की इस संदर्भ में वह पार्टी से बात तक नहीं करता. यह सारा कठिन काम, बदनामी मोल लेते हुए भी, उपनिदेशक महोदया स्वयं करती. रवि के बारे में तब पूरे कार्यालय का यही स्टैंड था कि वह कोटेशन ही अपनी तय शर्त पर लाता होगा और ऊपर ही ऊपर मोटा खा

जाता होगा. संस्थान की खुशफहमी के लिए ऐसा भ्रम पालना जरूरी था. यह कहानी लेखा शाखा के इंचार्ज दूबे जी द्वारा सबसे ज्यादा प्रचारित की जाती जो कि बिना खतरा उठाए विपत्र पास करने के बदले 'कट' में मोटा हिस्सा पाते.

लेकिन विजयेता ने आते ही यह काम भी अपने जिम्मे ले लिया. वह अपने पति के स्कूटर के पीछे बैठ कोटेशन भी ले आती. रवि ऑफिस की गाड़ी लेकर जाता था यह सब करने. सो कार्यालय का इस मद में शामिल ईंधन खर्च भी अधिकारियों के निजी कार्य में खपने लगा. इन सबके बावजूद रवि खुश था. वह विजयेता को उसके कामों में भरपूर लगन से सहयोग करता. वह इस संस्था को अपनी मातृ संस्था मानता था. जितना अपनी मां से प्रेम था, जननी जन्मभूमि से था, उतना ही प्रेम इस संस्था से उसे था. इस संस्था द्वारा किया हुआ भुगतान उसके शरीर में खून व मज्जा के रूप में दौड़ रहा था. वह संस्था को जीवंत और प्रासंगिक बनाए रखने के अपने प्रयास में कभी पीछे नहीं रहता. वह अपनी एक प्यारी-सी पत्नी और बेटे के साथ कम आमदनी में भी किसी तरह गुजारा चला रहा था. फिर भी खुश व संतुष्ट था.

रवि के भीतर का सन्नाटा इधर और बढ़ता जा रहा था. अब वह काम करने की जगह उंगलियां चिटकाता रहता या फिर सर झुकाए उबासियां लेता रहता. उसने विजयेता से भी एक दफा दिल की बात कही और सहयोग मांगा. विजयेता उसकी बातों से इत्तिफाक रखती थी लेकिन अपनी नौकरी और पोजीशन की वजह से मजबूर थी. दरअसल वह खुद एक मोहरा बन चुकी थी इस मामले में जबकि वह कहीं से बनना नहीं चाहती थी. उसका भी दिल इस मामले में फट चुका था. वह आत्मग्लानि से भरी हुई थी.

मामला बच्चों की सुरक्षा हेतु उनकी गंभीर बीमारियों पर इलाज के लिए अनुदान देने का था. रवि के जिम्मे अब यह काम आ गया था और वह इसे पूरी तटस्थता और ईमानदारी से कर रहा था. हालांकि एक बार उपनिदेशक की भतीजी, एक दफा निदेशक के बेटे और विजयेता की बेटी के लिए उसे समझौता करना पड़ा था. ये तीनों बच्चे भी इसी संस्था में नामांकित थे. संस्था के नियम में ऐसा कहीं नहीं था कि यहां के कर्मचारियों के बच्चों को यह सुविधा न मिले. इन तीनों के अलावा भी रवि ने कुछ अन्य कर्मचारियों के इसी तरह के जेन्युइन केस भेजे थे जिसे उपनिदेशक और निदेशक की इस टिप्पणी के साथ लौटा दिया गया कि यदि संस्था के तमाम लोग इस सुविधा का लाभ उठाने लगेंगे तो बाहर से आने वाले गरीब, बेसहारा बच्चों का क्या होगा, जो बहुतायत में हमारी संस्था में आते हैं. और यह भी एक सच था कि ऐसे बच्चों को दस से लेकर पच्चीस हजार तक का अनुदान निदेशक महोदया सच्चे हृदय से स्वीकृत कर देती थीं. एक कैंसर पीड़ित गरीब अति पिछड़ी जाति से आने वाले बच्चे के इलाज में तो संस्था ने लाखों खर्च कर उसे बचा लिया. इस सक्सेस स्टोरी की खबर प्रदेश के सभी अख़बारों में प्रमुखता से छपी और प्रदेश के मुख्यमंत्री ने भी इसे सराहा.

संस्था इसी प्रकार नाचती, ठुमकती आगे बढ़ रही थी. यद्यपि इसकी नीतियों में इधर कई बदलाव आए थे. जैसे की बाल दिवस मनाने की पुरानी परंपरा अब बंद हो चुकी थी तथा शौर्य एवं बलिदान दिवस पर देशभक्ति से परिपूर्ण कार्यक्रम होने लगे थे. लेकिन इन तमाम बदलावों को लेकर रवि उतना चिंतित नहीं था जितना कि इस अनहोनी घटना ने उसे भीतर ही भीतर तोड़ दिया था. पूरा कार्यालय इस मामले में दो फाड़ हो गया था. एक ओर रवि और उससे सहानुभूति रखने वाले गिनती के कुछ कर्मचारी. इनमें संस्था के चौकीदार, ड्राइवर, सफाईकर्मी जैसे लोग भी थे जो मो. शकील नाम के उस लड़के से अच्छी तरह वाकिफ थे. इतना खुश और मस्त रहने वाले उस गरीब लड़के ने संस्था का मान कई बार बढ़ाया था. वह लाजवाब अभिनय करता. तबला भी उतना ही बढ़िया बजाता. संस्था का कोई भी महत्त्वपूर्ण आयोजन उसके एकल तबलावादन के बिना संपन्न नहीं होता. उसकी दो बहनें भी इसी संस्था में 'कत्थक' सीख रही थीं और इन दोनों बहनों पर भी संस्था को नाज था. इनकी सफलता की कहानियां कई बार अख़बारों में प्रकाशित हुई थीं. संस्था के वार्षिक कैलेंडर में हमेशा इन भाई-बहनों में से किसी एक की तस्वीर अवश्य जाती.

यही शकील अचानक से बीमार हो गया था. उसका वजन गिरने लगा था. चेहरा निस्तेज और आंखें धंसी हुई सी दिखने लगी थीं. उसके अब्बा एक प्रेस में काम करते थे. उन्हें मात्र सात हजार रुपए मिलते. उसकी मां एक घर में खाना बना दो हजार तक किसी प्रकार कमा पाती. लेकिन इतने में क्या होता है पांच जनों के उस परिवार के लिए, जिसे नमक तक नगद पैसों से खरीदना होता. तिस पर से मकान मालिक भी दो कमरे के टूटे-फूटे मकान का किराया ढाई से तीन हजार करने पर अमादा था. महंगाई सुनामी से बेकाबू होते समुद्र की लहरों से होड़ लेती ऊंची दर ऊंची होती जा रही थी. इसमें बीच-बीच में जोर का झटका धीमे की तरह प्याज, लहसुन या रसोई गैस की कीमत अपना जौहर दिखलाती रहती. और अब तो राजनीति भी कोढ़ में खाज की तरह इन जैसे परिवारों के

रहवास पर सवाल उठाने लगी थी. इनके खान पान से लेकर अस्तित्व तक पर सवालिया उंगली उठने लगी थी.

डरे-सहमे शकील के अब्बा ने अपने इकलौते बेटे को पड़ोस के डॉक्टर से दिखलाया. उसने एक सप्ताह की दवा दी. इतने में ही हजार रुपए से ऊपर निकल गए मगर फायदा पैसे भर का भी नहीं. लगा गोयठे में घी सूख गया हो. साथ ही यह भी कहा था डॉक्टर ने कि कई तरह की जांच करानी होगी तभी बीमारी का सही निदान हो पाएगा.

शकील ने टोकने पर एक दिन अपने रवि भइया को सारी बातें बताई. यह सब बतलाते हुए चौदह साल का वह हंसमुख और मस्त लड़का मारे तकलीफ के रो पड़ा था. ''पता नहीं बच पाऊंगा कि नहीं.'' कहते हुए शकील भय से सिहर उठा था. वह अभी मरना नहीं चाहता था. अभी बच्चों पर बनी एक फिल्म में उसके अभिनय की काफी सराहना हो रही थी. इससे उसके अंदर नए सपने जगे थे. संस्था के प्रति उसकी आस्था दृढ़ हुई थी. जब उसे दिल्ली में पुरस्कृत किया गया था और उसने अपनी संस्था का मान बढ़ाया था, तब दोनों मैडमों ने उसके सर और गाल पर हाथ फेर उसे दुलार किया था. यही सब उपलब्धियां तो संस्था को फंड दिलाने में मददगार होती थीं.

रवि ने शकील की पीठ थपथपाते हुए कहा, ''हौसला रक्खो! सब ठीक हो जाएगा. मैं तुम्हारी फाइल बढ़ाता हूं. एम्स की शाखा इस शहर में भी खुल गई है. वहीं तुम्हारा इलाज करवाऊंगा.''

शकील की संचिका ऊपर पहुंची तो रवि को विमर्श के लिए बुलाया गया. दोनों मैडम कुड़कुड़ा रही थीं, ''अनुदान की संचिका है, पता है न, ऊपर भी भेजनी पड़ती है.

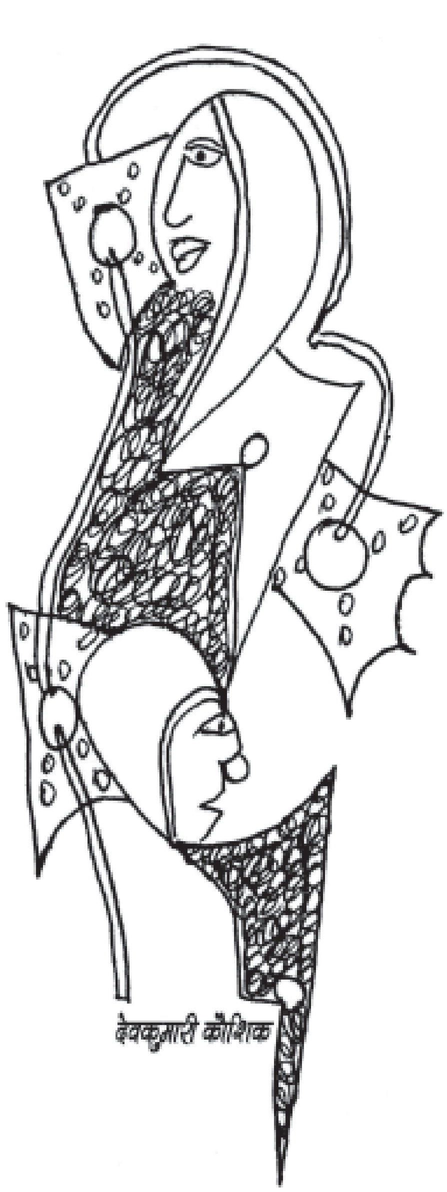

मुसलमान का नाम देखते ही अफसरों के तेवर बदल जाएंगे. सांप सूंघ जाएगा उन्हें. मंत्री जी को जानते ही हैं. वह तो इन लोगों की ओर देखना तक पसंद नहीं करते.''

''लेकिन यह लड़का तो संस्था के लिए अपरिहार्य है. मैंने लिखा भी है टिप्पणी में. और फिर मानवता भी एक धर्म है. यह संस्था इसी एक धर्म के नाम पर खड़ी की गई है. उनको रिजेक्ट करना हो तो कर दें. हम अपने हाथ क्यों गंदे करें?''

उस दोपहर कई तरह से समझाया रवि ने लेकिन वह दोनों मैम टस से मस नहीं हुईं.

''ठीक है, आप लोग इसी कारण से प्रस्ताव खारिज कर देने का आदेश जारी कर दें.'' रवि ने दृढ़ स्वर में कहा.

''हमें क्या इतना बेवकूफ समझ रखा है?'' डायरेक्टर मैम हत्थे से उखड़ चुकी थीं. झल्लाते हुए उठीं और उपनिदेशक के साथ मुआयने पर निकल पड़ीं.

संचिका अब विजयेता के पास आ चुकी थी. विजयेता के कान में काफी कुछ भर दिया गया था, जबकि आदेश मात्र एक पंक्ति का था—वस्तुस्थिति की जांच कर प्रतिवेदन शीघ्र दें.

विजयेता शकील के घर गई. सब कुछ पूछा-जांचा. देखा सुना. डॉक्टर के पर्चे की फोटोकॉपी करा रख ली. उसमें फुल बॉडी स्कैन के साथ और भी कई जांच कराने की बात थी.

''जांच क्यों नहीं करवाया?''

''इसके लिए पैसे नहीं हैं हमारे पास. जांच करवाएं कि रोटी खाएं?''

विजयेता रवि के पास आई. ''क्या करूं, क्या लिखूं?'' वह हर पेचीदे मामले में शुरू से ही रवि से सलाह करती थी और रवि अपनी समझ भर से उसे मशविरा देता था.

''जो सच लिखती हूं तो मैम लोग कटही कुतिया की तरह मुझ पर टूट पड़ेंगी. जो गलत लिखती हूं तो?''

''मैं तो यही कहूंगा कि क्या बिगाड़ के डर से ईमान की बात नहीं कहोगी? वैसे एक बार ऊपर बात कर देख लो. उन्हें सही वस्तुस्थिति बतलाओ. शायद कांच की उन गुड़ियाओं का दिल मोम का हो जाए.''

''असंभव...जितना मैं उन्हें जानती हूं.'' विजयेता अचानक से उठ खड़ी हुई.

जैसे उसे कुछ जरूरी काम याद आ गया हो. वह मुड़ी और तेजी से बाहर निकल गई. उसके भीतर भी भयानक ऊहापोह की स्थिति थी.

संचिका लौटकर आई. उसी सरकारी भाषा में थोथी दलील के साथ कि मरीज को दवा की नहीं पौष्टिक भोजन की ज़्यादा जरूरत है और इसके लिए हमारे यहां कोई प्रावधान नहीं. इसके साथ ही विजयेता की जांच रिपोर्ट अलग से फाइल में नत्थी की हुई थी.

इसी समय से रवि के अंदर का अंधेरा घना होना शुरू हो चुका था. वह पागल हो उठा था जैसे. इतना सब किया इस संस्था के लिए जरूरी, गैरजरूरी सब. नाजायज को भी अनदेखा किया और इस एक जायज काम के लिए किसी का सहयोग नहीं? जबकि सभी को पता है कि इसमें उसकी व्यक्तिगत फरियाद भी शामिल है.

वह पुनः एक बार सबसे मिला. दो टूक जवाब यह मिला कि एक बच्चे की जान की कीमत पर हम सैंकड़ो बच्चों के भविष्य से खिलवाड़ नहीं कर सकते. कहीं क्रुद्ध होकर उच्चाधिकारियों ने अनुदान ही देना बंद कर दिया तो संस्था बच पाएगी भला? इतने लोगों की जीविका का क्या होगा?

निराश रवि ने मामले को प्रेस में सौंप दिया. अगले दिन हैरत हुई यह देख कि किसी भी अखबार ने इसे नहीं छापा. पता चला कि तमाम अखबार के संवाददाताओं ने निदेशक मैम से बात की है इस विषय पर. तभी तो निदेशक को रवि की इस हरकत का पता लग चुका था. रवि को विजयेता से यह भी पता लगा कि वह क्रोध से उफन रही हैं. उनका वश चलता तो वह अभी के अभी निगल जाती उसे. उसे देशद्रोही तक घोषित कर दिया गया कार्यालय में. मोटा माल खाने वाला भ्रष्ट तो उसे पहले से ही करार दिया जा चुका था.

रवि ने अपनी जेब से कुछ करना चाहा लेकिन कितना कर पाता भला? शकील का रुआंसा चेहरा उसके सपनों में आता और वह चौंककर उठ बैठता. रात रात भर जगता और खुद पर झींकता रहता. खुद उसका ऐसा सामर्थ्य नहीं था कि हजार दो हजार भी अपने घरेलू बजट से कतर ब्योंत कर मदद कर पाता. पैसों की कमी की वजह से घर में होते तकरार के कारण उसका पारिवारिक जीवन भी अक्सर तनावपूर्ण रहता. फिर भी उसने दो हजार रुपए शकील की मां के हाथ पर रखते हुए कहा कि वह सरकारी अस्पताल में किसी तरह उसे भर्ती करवा दें.

लेकिन इसके दूसरे ही दिन शकील की मौत हो गई. उसका चेहरा बिल्कुल सिकुड़ चुका था और बदन पीला पड़ गया था. पता चला कि कल हुई जांच में हिमोग्लोबिन महज तीन प्रतिशत था. आज खून चढ़ाया जाना था कि अचानक...! खाना पीना भी इधर उसने लगभग छोड़ ही रखा था.

संस्था में अगले दिन शोक सभा बुलाई गई. दोनों मैम ने अपनी जान-पहचान की बदौलत स्थानीय प्रशासन से अंत्येष्टि के लिए देय राशि कल ही दिलवा दी थी. शोक सभा में इस बात की विशेष चर्चा हुई और निदेशक महोदया के प्रति आभार तक जताया गया. वहां इस बात के लिए रवि की भरपूर रूप से भर्त्सना हुई कि वह यहां उपस्थित क्यों नहीं है? उसी का काम यह देखना था कि सभी बच्चों को चिकित्सा अनुदान मिल सके. विजयेता की भी इस बात के लिए आलोचना हुई कि उसने उच्चाधिकारियों तक सही जांच रिपोर्ट नहीं पहुंचाई. अगले दिन रवि को नोटिस थमा दिया गया. उस पर सरकारी पद पर लापरवाही बरतने के साथ-साथ सरकारी राशि के दुरूपयोग का भी गंभीर इलजाम लगा. नौकरी से निकाल दिया गया था. रवि को इसकी भनक दरबान से पूर्व में मिल चुकी थी. वह नोटिस लेने भी नहीं गया.

अगले दिन बेसमेंट के बाहर सभी संकायों के बच्चों की भीड़ जमा थी. तमाशबीन के रूप में संस्था के कई कर्मचारी भी थे. वहां बेसमेंट के ठीक सामने, पत्थर के विभिन्न आकार के टुकड़ों से बना बाहर जाने का आकर्षक रास्ता था. इसी के एक बगल एक 'बिजूका' जैसी आकृति खड़ी थी. इस आकृति का चेहरा एकदम से रवि की तरह था. बस अलग से केवल ऐंठी हुई मूंछें इस चेहरे को और भी भव्य और जीवंत बना रही थी. लगता था यह कला संकाय के विद्यार्थियों का एक सम्मिलित प्रयास था. या फिर जाने किस किस का?

धीरे-धीरे तमाशबीनों की संख्या बढ़ती जा रही थी. ऊपरी मंजिल से, बदहवास-सी दिखती दोनों मैम लगातार चीख रही थीं-''कौशल...अर्जुन...सीताराम...कहां मर गए सबके सब...? ...अरे कोई हटाओ इसे और बाहर कूड़े में फेंक आओ...मैं कहती हूं अभी...अभी फेंको जाकर.

कर्मचारी यह दहाड़ सुन चुपके से खिसकने लगे थे वहां से. किसी ने भी आगे बढ़कर उस आकृति को हाथ लगाना मुनासिब नहीं समझा. दोनों मैम अपनी बेबसी को छिपाए जब अपने कक्ष में पहुंची, विजयेता सिन्हा का इस्तीफा उनकी आंखों के आगे फड़फड़ाने लगा था.

❐

कविताएं

यतीश कुमार की कविताएं

'मैंने मांडू नहीं देखा'

(स्वदेश दीपक के लिए)

खबरों के इतने मायने रह गए हैं
कि अब सिर्फ दिन देखने के लिए
अखबार की हेडिंग देखता हूं
पर एक दिन खबरों में पढ़ा
घने जंगल के बीच
वह सूखी औरतें
सूखी लकड़ियां चुन रही हैं
किसी की चिता के लिए

शिशिर के गिरते पत्तों की कराह
और लकड़ियां चुनते-चुनते
वो स्त्री सोचती है
क्या बीतती होगी धरती पर
जब लाशों की तरह
उसके पुत्रों
हरे वृक्षों को काटकर
उसकी गोद में ही सुला दिया जाता है

मैं देखता रहा
एक-एक कर
मेरे इंद्रियों की मृत्यु हो रही थी
मुझे बताया गया
खंडित मूर्तियों की पूजा नहीं होती

मुझे लगा मेरे अंदर
एक और पुल टूट गया

घर के बर्तन खनखनाने लगें
और मां की एक बात याद आ गई

एक चुप और सौ सुख
मैं सात सावन चुप रहा

दरवेश और रोगी की एक ही दशा है
दोनों रह-रहकर
अल्लाह और भगवान को याद करते रहते हैं
मैं दोनों बना
पर याद में ईश्वर नहीं दिखे

मैंने अपने फ्रेम से तस्वीर निकाल ली
अब बिना तस्वीर के खाली फ्रेम हूं मैं
लिबास नया है
पर उदासी वही पुरानी

मैं वो पहाड़ हूं
जिसमें बारूदी सुरंगे रह-रह कर फटती हैं
उजाड़ बढ़ता है
इंच दर इंच

वो बांस का टुकड़ा बन गया हूं
जिसे ध्वजा फहराने का इंतजार है

पर मैं वह ध्वज हूं
जिससे अभी-अभी
पताका उतार ली गई है
और मैं फूल की तरह
चुपचाप सूख रहा हूं

सर्पीली टुस्सियों को पकड़ने
अंधे कुएं में गिरा
अब रस्सियों के सहारे
पहाड़ चढ़ रहा हूं
बहुत ताकतवर है
उम्मीद की रस्सी
प्राण निकलने तक बांधे रखती है

कोई मेरा बसंत चुराने आया
मैंने वसंत को झोले में रख लिया
जिसकी निगहबानी करने
आकाश का नीला टुकड़ा
मेरे कमरे में रहता है

खिड़की से झांकता हूं
तो चांद के चलने की आवाजें आती हैं
अब मेरा मन करता है
चांद के साथ बेआवाज चलूं

मैंने आकाश तक जाने वाला झूला बनाया
इस झूले पर एक नेम प्लेट लगाया 'मुक्ति'
चंदन से मृत्यु और मुक्ति लिख
पानी में घोल पी गया

•

मैं रूठने और नाराज होने के
बीच की स्थिति बन बैठा हूं
इस यात्रा में
कई बार
रोशनदान, खिड़की और फिर
दरवाजा बनता रहा

प्रेम खिड़की से अंदर आता है
और दरवाजे से बाहर जाता है
प्रेम और युद्ध के तरीके एक जैसे
जो हारे वह युद्धबंदी
मैंने न प्रेम किया न युद्ध
पर बन गया बंदी

यह भी जाना कि
बुद्ध के रस्ते में
कर्ण कवच मिलता है
और फिर शब्दों के तीर नहीं लगते
मैं पैदल चलता गया
मैं तुम तक पहुंचना चाहता था
पर मुझे बताया गया कि
जो पैदल चलते हैं
वो कहीं नहीं पहुंचते

अब मैं कान बनना चाहता हूं
ताकि शब्दों को अर्थों में बदल सकूं
चाहता हूं
शक्ति और सब्र
दोनों एक साथ रहें

मेरे पैराहन बन कर
मैं उसे ओढ़ कर
दोबारा विश्व जीतने चल दूंगा
और यूं
अब मैं अपना अनुवाद होने से बच गया

संपर्क : फ्लैट नं. 19, द वुडलैंड सिंडिकेट, 8/7,
अलीपुर रोड, कोलकाता-700027
मो. : 8777488959

प्रकृति करगेती की कविता

पथरीले दलदलों में कविता की तलाश

कविता की तलाश में
कविता लिखने बैठी हूं
यूं तो,
पन्ना खाली छोड़
कह सकती हूं
"कोरे पन्नों पर छुपी होती हैं,
सबसे गहरी कविताएं"
इस खोखले फलसफे को सुन
आप भी दे सकते हैं उबासियों भरी दाद
पर मेरा अहम भी
रोज सुबह
आईना देख घर से निकलता है
सजना संवरना तो छोड़ो
वो खुद को देख
अपनी रीढ़ तक सीढ़ी नहीं कर पाता
कविता की तलाश का रास्ता
पथरीले दलदलों से भरा है
अलंकारों की एड़ियां
वहीं फंसकर, धंसकर, डुबा सकती हैं मुझे
इसलिए संभल-संभलकर चलती हूं
हर रोज सुबह
नई कविताओं की तलाश में

❐

संपर्क : 7838095179
ईमेल : prakritik7@gmail.com

अंबेडकर : मूर्ति या विचार?

प्रहलाद चंद्र दास

लेख

वे मनुवादी, जिन्हें अंबेडकर अपने जीवनकाल में फूटी आंखों नहीं सुहाए, अचानक से उन्हें उनकी भक्ति में ऊभ-चुभ करते, डूबते-उतराते, उनका यशोगान करते, उनकी मूर्तियां स्थापित करते, उनका अनावरण करते, दुग्धाभिषेक और अन्यान्य हिंदू कर्मकांडों से पूजन-अर्चन करते देख चकित होने का नहीं, शंकित होने का समय है, क्योंकि यही वे लोग थे जिन्होंने अंबेडकर के जीवन काल में कभी उनकी सराहना नहीं की, उन्हें सम्मान नहीं दिया और उनके हर काम की भर्त्सना की हद तक आलोचना की.

डॉ. अंबेडकर ने जब संविधान सभा में संविधान का अंतिम मसौदा पेश किया तो ये मनुवादी स्वयं और इनकी विचारधारा की ध्वजवाही पत्र-पत्रिकाएं, सभी उन पर एक साथ पिल पड़े थे. ऊपर 'मनुवादी' शब्द का प्रयोग यह जाहिर करने के लिए किया गया है कि यह जमात भारतीय संविधान से अधिक श्रेष्ठ 'मनु-विधान' को मानता रहा है. ध्यातव्य है कि आर.एस.एस. के अंग्रेजी मुखपत्र 'ऑर्गेनाइजर' (नवंबर 30, 1949) में संविधान पर एक संपादकीय आया, जिसमें संविधान की तीखी आलोचना की गई थी और कहा गया था कि 'भारत के संविधान में कुछ भी 'भारतीय' नहीं है.' यह क्षोभ व्यक्त किया गया था कि 'इसमें भारत के प्राचीन विधि-विधानों, संस्थाओं, शब्दावलियों तथा पदावलियों की झलक तक नहीं है.' फिर मनुस्मृति का स्तुतिगान करते हुए कहा गया था, 'मनु के विधान स्पार्टा के लाइकरगस[1] (840 ईसा पूर्व) और एथेंस के सोलोन[2] (640, ईसा पूर्व) के काफी पहले लिखे गए थे. मनुस्मृति में दिए गए विधान आज भी पूरे विश्व में प्रशंसित हैं और भारत के हिंदुओं में एक स्वाभाविक एकरूपता और आज्ञाकारिता उत्पन्न करते हैं. पर्सनल लॉज में सुधारों के कारण संघ उनसे विशेष रूप से नाराज था. आर.एस.एस. के सरसंघचालक एम.एस. गोलवलकर ने अपने एक भाषण में शिकायत की कि 'अंबेडकर द्वारा सुझाए गए सुधारों में कुछ भी 'भारतीय' नहीं है. इस देश में विवाह और विवाह-विच्छेद अमेरिका या ब्रिटिश तर्ज पर नहीं किये जा सकते. विवाह हिंदू संस्कृति और नियमों के अनुसार एक संस्कार है, जिसे मृत्यु के बाद भी नहीं बदला जा सकता. यह कोई अनुबंध नहीं है, जिसे किसी समय तोड़ दिया जा सकता है.' गोलवलकर ने कहा, 'यह ठीक है कि देश के कुछ हिस्सों में कुछ छोटी जातियों के लोगों में विवाह-विच्छेद का रिवाज है, परंतु उनके रिवाज को सबों के लिए आदर्श नहीं बनाया जा सकता (ऑर्गेनाइजर, सितंबर 6, 1949).

2 नवंबर, 1949 के ऑर्गेनाइजर में छपे एक लेख में 'हिंदू कोड बिल' को हिंदुओं पर सीधा हमला बताया गया. कहा गया, 'स्त्रियों को तलाक का हक देना हिंदू विचारधारा से बगावत करना है.' एक महीने बाद, (दिसंबर 7, 1949) संपादकीय की शुरुआत ही इस तरह से होती है, 'हम हिंदू कोड बिल का विरोध करते हैं. हम इसका विरोध करते हैं क्योंकि, यह एक अपमानजनक कदम है, जो विदेशी और अनैतिक सिद्धांतों पर आधारित है. यह 'हिंदू' छोड़कर कुछ भी हो सकता है. हम इसकी भर्त्सना करते हैं, क्योंकि यह हिंदू-विधानों, हिंदू-संस्कृति और हिंदू धर्म पर एक क्रूर और अज्ञानी परिवाद है.' इतिहास साक्षी है कि आर.एस.एस. ने इस बिल के विरोध में अपनी पूरी ताकत झोंक दी. धरना, प्रदर्शन और हड़तालों की झड़ी लगा दी. इनकी सभाओं को इनके नेताओं के अलावा अलग-अलग अखाड़ों के साधु-संत भी संबोधित करने लगे जो इसके विरोध में दीवार की तरह खड़े हो गए.

ऑर्गेनाइजर में अनेक आलेख यह बताते हुए आए कि 'नेहरू और अंबेडकर जितना सोच सकते हैं, हिंदू-धर्म, हिंदू-संस्थाओं और विधानों में उससे कहीं अधिक बातें हैं.' इन्हीं दिनों जब 'फ्री इंडिया' पत्रिका में डॉ अंबेडकर की प्रशंसा में एक लेख छपा, जिसमे उन्हें 'आधुनिक भारत का मनु' कहकर सराहा गया तो ऑर्गेनाइजर में किसी डी.पी. शास्त्री का एक लेख छपा, जिसमें इस तुलना की कड़ी भर्त्सना की गई. कहा गया 'यह एक लिलिपुट को विशालकाय ब्रोब्डिंगनग (जोनाथन स्विफ्ट के 'ए वौएज टू ब्रोब्डिंगनग' का 60 फीट ऊंचा काल्पनिक जीव) बताने जैसा है. डॉ. अंबेडकर और ईश्वर-सरीखे मनु की तुलना ही हास्यास्पद है.'

इस तरह, जब देश के लिए एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रयोजन, संविधान निर्माण में अंबेडकर जुटे थे, साथ ही भारत के कानून मंत्री की हैसियत से दलित एवं हिंदू स्त्रियों की हितकामना के साथ उनकी अवस्था में सुधार हेतु कानूनी बाध्यता की

तरकीब सुझा रहे थे, मनुवादी आर.एस.एस. की जमात उन्हें और उनके विचार दोनों को गालियां दे रही थीं.

फिर क्या बात है कि 67 साल बाद, 2016 में, उनका यही पत्र, ऑर्गेनाईजर (अंक, 17 अप्रैल, 2016), डॉ. अंबेडकर पर पुष्प-वर्षा करता हुआ सामने आता है? उसके मुखपृष्ठ पर डॉ. अंबेडकर का चित्र सुशोभित होता है, और अंदर के सारे पन्ने उनके यशोगान से भरे होते हैं. इसके एक लेख में कहा गया, 'उन्होंने ही राष्ट्र-निर्माण का ग्लू दिया!' एक-दूसरे लेख में यह तर्क पेश किया गया कि उनके विचार और कार्य ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज आदि से मिलते थे. एक तीसरा लेख उनके मजदूर-हितों के प्रति रुचि की प्रशंसा करता है और एक अन्य लेख उन्हें 'कालातीत' नेता के रूप में अभिहित करता है, एक ऐसे नेता जो ब्राह्मणों के नहीं बल्कि, ब्राह्मणवाद के खिलाफ थे. चारों तरफ उनके नाम की दुंदुभी बजने लगती है. पूरे देश के दलित चकित और भ्रमित हो जाते हैं. कुछ दलित सदा की तरह मनुवादियों की इस नेकनीयती (?) की सराहना करते हुए उनके पीछे हो लेते हैं, जो अवश्य ही उनकी इस उदारता (?) का काम्य रहा होगा!

महापुरुषों की मूर्तियां इस आशय से बनाई जाती हैं कि वे साधारण-जन को प्रेरणा दें, 'हम थे, यहीं थे, हमने इतने और ऐसे-ऐसे काम किए, अपने जीवन में तुम भी कुछ इसी तरह के काम करो' का संदेश दें, यहां तक तो बात ठीक है, लेकिन जब महापुरुष को महज एक मूर्ति, मूर्ति के अलावा और कुछ नहीं में तब्दील कर, उसके विचारों की नहीं, उसकी मूर्ति की भी हत्या की जाए, तो सावधान हो जाने की जरूरत है! उस अंबेडकर को जिन्होंने हिंदू-धर्म की मूर्ति-पूजा और कर्मकांड ही नहीं, अपितु इस धर्म का ही परित्याग कर अंततः एक 'नया' बौद्ध धर्म अपना लिया, उसे अचानक से एक हिंदूवादी प्रपंच में फांस लिया गया है. जिस मनुवाद के खिलाफ वे ताजिंदगी लड़ते रहे, उसी मनुवाद के समर्थक आज अंबेडकर को हाइजैक कर, उन्हें अपनी मान्यता का 'ईश्वर' बनाकर, सिर्फ मूर्तियों में बदलकर रख देना चाह रहे हैं—उनके विचारों को विस्मृति के गर्त में ढकेल देने के प्रयासों के साथ. बहुआयामी व्यक्तित्व वाले डॉ. अंबेडकर को सिर्फ 'संविधान-निर्माता' के रूप में 'फिक्स' कर उनके बाकी अवदान भुला देने का उपक्रम कर रहे हैं.

संविधान-निर्माता का उनका रूप महत्त्वपूर्ण है, पर उनकी 'लिगेसी' का यह सबसे कम महत्त्वपूर्ण आयाम है क्योंकि अंबेडकर तो आधुनिक भारत की समग्र सामाजिक चेतना हैं. सवर्ण भारतीय विद्वानों ने उन्हें दलित नेता और कानून के विद्वान तक सीमित कर दिया है. पश्चिमी इतिहासकार पैरी एंडरसन ने 'द इंडियन आइडियोलॉजी' नामक अपने लेखों की शृंखला में, उन्हें अपने समय के सारे विद्वानों, नेताओं की तुलना में सबसे ऊंचे कद का व्यक्तित्व माना है, जबकि भारतीय सवर्ण बुद्धिजीवी इसे आत्मसात नहीं कर पाते. यह ठीक है कि रामचंद्र गुहा, सुनील खिलनानी या अमर्त्य सेन जैसे स्वर्ण विद्वान अपनी रचनाओं/लेखों में इनका उल्लेख आदर के साथ जरूर करते हैं, लेकिन उनके शीर्षस्थ स्थान को खुले दिल से, बेहिचक स्वीकार करते नजर नहीं आते. वे इनकी विद्वत्ता का लोहा जरूर मानते हैं, पर गांधी और नेहरू दर्जा नहीं देते.

नमिता अरोड़ा अपने एक लेख में लिखती हैं—'अंबेडकर के बारे में इनकी पुस्तकों में एक प्रायोजित चुप्पी और वाक्छल है. एक उदार प्रजातंत्र के लिए जो चीजें बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, जैसे सभी के लिए समान अवसर मुहैया कराना, अल्पसंख्यकों की हित-रक्षा, छुआछूत के विरुद्ध लड़ाई, आदि मसलों पर दोनों स्कूलों (नेहरू-गांधी का एक और अंबेडकर का दूसरा) में काफी अंतर है. गांधी का समाज सुधार और नेहरू का धर्म-निरपेक्ष बुद्धिवाद या तर्कवाद, भारत की 'सेल्फ इमेज' के लिए जरूरी चीजें हो सकती हैं पर इन दोनों विषयों पर अंबेडकर अधिक गहरी और मौलिक समझदारी रखते हैं.'

आजादी की लड़ाई के संदर्भ में वह मानते थे कि जिस तरह किसी देश को दूसरे देश पर शासन करने का अधिकार नहीं है, उसी तरह किसी जाति या वर्ग को भी किसी दूसरी जाति या वर्ग पर शासन का अधिकार नहीं है.

वह यह समझते थे कि भारत में जड़ जमा चुकी सामाजिक असमानता और जातीय प्रतिबद्धताएं एक राष्ट्र के रूप में प्रजातांत्रिक भागीदारी और साझी नागरिकता के विचारों की सबसे बड़ी बाधाएं हैं. अंबेडकर यह मानते थे कि राजनीतिक उत्पीड़न से सामाजिक उत्पीड़न कहीं अधिक बड़ी अनैतिकता है, बड़ा अपराध है. उन्होंने अपने ऐतिहासिक भाषण 'एनिहिलेशन ऑफ कास्ट' में लिखा, 'एक समाज-सुधारक जो समाज से टकराता है, वह उस राजनीतिज्ञ से अधिक साहसी है जो सरकार को चुनौती देता है और इस देश में राजनैतिक प्रजातंत्र के पहले एक सामाजिक प्रजातंत्र की जरुरत है.' उन्होंने कहा, 'सामाजिक प्रजातंत्र के बगैर, राजनीतिक प्रजातंत्र के लिए ध्यान केंद्रित करना 'गोइंठे के ढेर पर महल खड़ा करने' जैसा है. यह सिर्फ और सिर्फ अंबेडकर की अकेली चिंता थी कि दलितों का मुक्ति-पथ प्रशस्त करने के लिए भेद-भाव विरोधी कानून बने और सार्वजनिक संस्थानों जैसे, कुएं, स्कूल, मंदिर, गांव के चौक-चौराहे, यातायात, श्मशान आदि तक उनकी पहुंच निर्बाध हो.

उन्होंने हिंदू धर्म-ग्रंथों का गहन अध्ययन किया और उनमें से एक दलित और स्त्री-विरोध के पैरोकार ग्रंथ, 'मनुस्मृति' का दहन भी किया. उन्होंने 'हिंदू कोड बिल' के द्वारा ब्राह्मणवादी पितृसत्ता को ललकारा. इस बिल में स्त्रियों के विवाह-विच्छेद (तलाक) के अधिकार, गुजारा-भत्ता, समान उत्तराधिकार, विवाह और गोद लेने में जाति प्रतिबंध को हटाने आदि बातों के अलावा, हिंदुओं में बहु-विवाह पर प्रतिबंध और हिंदू-स्त्रियों के अधिकारों में इजाफे की बातें थीं जिनके समर्थन में उन्होंने पश्चिम के किसी कानून या दर्शन का हवाला नहीं दिया, बल्कि हिंदू धर्म-ग्रंथों से पूर्व में प्रचलित उदारवादी परंपराओं का हवाला दिया, जिसकी मुखालफत कोई नहीं कर सका. आज सवर्ण स्त्रियों और स्त्रीवादियों को भारत के स्त्रीवाद के इतिहास में उनके इस योगदान को स्वीकारना बाकी है.

अंबेडकर के मौलिक विचारों ने उन्हें न तो वामपंथियों का प्रिय बनने दिया न दक्षिणपंथियों का. अंबेडकर ऐसा मानते थे कि भारत का कामगार वर्ग जाति और धर्म के आधार पर बुरी तरह विभाजित है और उसे साम्यवादी क्रांति के लिए प्रस्तुत होने में बहुत समय लगेगा. उनका यह मानना था कि 'लेनिन अगर भारत में पैदा हुए होते तो पहले वे कामगारों के बीच से जाति और छुआछूत को समाप्त करने का काम करते.'

पर, 'प्रजातांत्रिक समाजवाद' जैसे मसले पर वे कम्युनिस्टों के विचारों से साम्य रखते थे. यह उनके वाइसराय केबिनेट में श्रम-मंत्री के रूप में कार्य करने के दौरान स्पष्ट हुआ, जहां उन्होंने सिंचाई, ऊर्जा और नागरिक सुविधाओं के लिए नीतियां बनाईं.

दरअसल, किसी खास सैद्धांतिक प्रतिबद्धता से अधिक उनके लिए गरीब और हाशिये के लोगों की समस्याओं का समाधान महत्त्वपूर्ण था. यह उनके, कोलंबिया के चहेते परामर्शदाता जॉन देवे को सही उपहार था, जो उपयोगितावाद के जाने-माने दार्शनिक थे. (इस दर्शन के सत्य और यथार्थ बौद्ध धर्म से मिलते हैं). वास्तव में यह उपयोगितावाद ही था, जिसकी वजह से अंबेडकर के आर्थिक विचार मार्क्सवाद से हटकर कल्याणकारी पूंजीवाद के नजदीक पहुंचे.

1930 के प्रारंभ में अपने लोगों की हितों की रक्षा को ध्यान में रखते हुए उन्होंने राजनैतिक दल की स्थापना की और पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी आरंभ किया तथा पूरी दक्षता एवं क्षमता के साथ गोलमेज कांफ्रेंस में उनका प्रतिनिधित्व किया. 1942 में आयोजित एक सम्मेलन में उन्होंने आह्वान किया—'शिक्षित बनो, संघर्ष करो और संगठित रहो. न्याय हमारे पक्ष में है और मुझे कहीं से नहीं लगता कि हम अपनी लड़ाई हार जाएंगे. यह लड़ाई मेरे लिए आनंददायक वस्तु है और अपनी प्रकृति में पूरी तरह आध्यात्मिक है. हमारे लिए यह लड़ाई न तो धन के लिए है न ही ताकत के लिए. यह लड़ाई हमारी आजादी की लड़ाई है.'

प्रतिरोध का उनका तरीका कानूनी-प्रजातांत्रिक था, अहिंसा और विरोधियों को बहस के जरिए धुलिसात करना था. इस कारण वे प्रगतिशील हिंदुओं से भी हाथ मिलाने से परहेज नहीं करते थे. उदाहरण के तौर पर 'इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी', जो एक जातीय संवेदनशील पार्टी थी, में अनेक ब्राह्मण और कायस्थ जैसे, अनंतराव चित्रे और सुरेन्द्रनाथ टिपनिस आदि थे, जो सार्वजनिक जलाशयों से पानी पीने के उनके संघर्ष में कंधे से कंधा मिलाकर उनके साथ खड़े थे. 1930 में अंबेडकर ने 'जनता' साप्ताहिक की शुरुआत की, उसके संपादक के रूप में जी.एन. सहस्त्रबुद्धे, जो ब्राह्मण थे को नियुक्त किया. अपनी दूसरी पत्नी के रूप में भी एक ब्राह्मण स्त्री, शारदा कबीर को चुना जो उनके जीवन-पर्यंत जारी कार्यक्रमों की साथी और सहयोगी रहीं.

भारत में अंबेडकर का पार जीवन अमेरिका के मार्टिन लूथर किंग जूनियर के समानांतर लगता है. जिस तरह सवर्ण हिंदुओं के भाव अंबेडकर के प्रति रहे, उसी तरह रंगभेदी श्वेत अमेरिकन भी किंग को अपना हितकारी नहीं मानते थे. जबकि सच्चाई यह है कि श्वेत वर्चस्व और उनके शारीरिक और भावनात्मक हिंसा का सामना करते हुए किंग ने श्वेत अमेरिकनों के लिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण काम किए. फिर भी उनका एक बड़ा हिस्सा किंग के कार्यों को अपनी जिंदगी में एक अनुचित हस्तक्षेप, यहां तक कि अपनी व्यक्तिगत आजादी और अधिकारों के अपमान की तरह देखते थे.

ऐसा लगता है जीवन के अंतिम समय में अंबेडकर में निराशा का भाव घर करने लगा था, जब उन्होंने अपने सचिव, नानकचंद रत्तू से कहा, 'मैं अपनी जिंदगी का उद्देश्य पूरा नहीं कर सका. मैं अपने लोगों को शासक वर्ग के रूप में देखना चाहता था, जो दूसरे समुदायों के साथ सत्ता में बराबर के भागीदार होते. मैं अब बीमारी की वजह से लाचार और बेबस हो गया हूं. मैं जो कुछ भी प्राप्त करने में कामयाब हुआ, उसका लाभ कुछ मुट्ठीभर शिक्षित लोग ही उठा रहे हैं जो अपने कपटपूर्ण आचरण से एक निकम्मी जमात की तरह साबित हो रहे हैं, जिन्हें अपने दबे-कुचले भाई-बहनों से कोई सहानुभूति नहीं है. अपने लोगों की इस कमजोरी और जो लोग उनके उत्तराधिकार की स्पर्धा में थे, उनकी स्वार्थपरता पर अंबेडकर पछता रहे थे—एक मानवीय कमजोरी, जो दूसरे समुदायों और मुक्तिकामी आंदोलनों में भी

घर कर चुकी है.

फ्रांसीसी राजनीति वैज्ञानिक और दक्षिण एशिया मामलों के विशेषज्ञ, क्रिस्टोफ जाफ्रेलोट ने लिखा, 'आधुनिक भारत के निर्माण में अंबेडकर का अवदान, उनकी पीढ़ी के किसी भी अन्य नेता से अधिक व्यावहारिक, वास्तविक और महत्त्वपूर्ण है.' हमारे अग्रणी राष्ट्रीय चरित्रों में एकदम अनोखे, अंबेडकर न सिर्फ असंख्य व्यक्तिगत कठिनाइयों (जातिगत अपमान, गरीबी, अपने पांच में से चार संतानों की मौत) से उबरते हैं, बल्कि वे भारतीय समाज की स्वतंत्रता, बराबरी और भाईचारे के विचारों/मूल्यों के आधार पर समीक्षा का मार्ग भी प्रशस्त करते हैं—वे विचार, वे मूल्य जो उन्होंने भारत की ही प्राचीन परंपरा, विशेषतः बौद्ध धर्म से लेकर स्थापित किये थे. वे नेहरू से भी अधिक सेक्युलर बुद्धिवादी थे. उनका इतिहास, अर्थशास्त्र और दर्शन का ज्ञान नेहरू से कहीं अधिक विवेकी है. अंबेडकर के इस पहलू को, जिसकी जड़ एक लौकिक, समावेशी, तार्किक, धर्म-निरपेक्ष और मौलिक दृष्टिकोण में है, जो दृढ़तापूर्वक बराबरी की प्रतिष्ठा तथा नागरिक अधिकारों के मूल सामाजिक न्याय पर फोकस करता है, उसे मुख्य धारा का वांछित सम्मान मिलना बाकी है. असंख्य मूर्तियों के निर्माण और गगनभेदी मंत्रोच्चार के साथ उनका पूजन-अर्चन इसके विकल्प नहीं हो सकते.

संदर्भ :

1. स्पार्टा के कानून निर्माता
2. एथेंस के कानून निर्माता

❐

संपर्क : pcdas9@gmail.com

लघुकथा

पूजा का सामान

शशि श्रीवास्तव

'सुनिए जी! कल मेरा तीज का व्रत था, आप शिवजी के मंदिर के सामने से निकलेंगे तो पंडिताइन को यह पूजा का सामान देते जाना.'

चारू की इस बात पर सुकेश कुछ झुंझलाते हुए बोला—'तुम्हें तो आफिस जाते समय ही हर काम याद आता है. पहले ही देर हो गई है. तुम्हारी पंडिताइन के चक्कर में मुझे और देर हो जाएगी, आज वैसे भी ऑफिस में मीटिंग है.

इस पर चारू कुछ धीमे स्वर में बोली—'आज मेरी तबियत खराब है वरना मैं खुद ही जाकर दे आती.'

चारू की तबियत की सुनकर सुकेश हड़बड़ाते हुए बोला—'अच्छा बाबा...जल्दी लाओ, लौटते समय मैं तुम्हारी पंडिताइन को पूजा का सामान देता आऊंगा.'

और फिर मुस्कराकर थैंक्स-थैंक्स बोलते हुए चारू ने सुकेश के हाथों में पूजा के सामान का थैला पकड़ा दिया था.

शाम को ऑफिस से लौटते वक्त सुकेश मंदिर गया परंतु पंडित या पंडिताइन कोई भी वहां नहीं थे. किसी ने बताया कि पंडित जी, पंडिताइन के पास घर पर ही हैं. उसी व्यक्ति ने हाथ के इशारे से सुकेश को पास ही स्थित पंडित जी का घर भी दिखा दिया था. सुकेश सीधा उनके घर पहुंच गया था.

पंडित जी के दरवाजे पर सामान ढोने वाला एक टेम्पो देखकर सुकेश के कदम वहीं ठिठक गए थे. दरवाजे की ओट से उसने देखा कि कमरे के अंदर पंडित जी एक लड़के से साड़ियों, चूड़ियों, चांदी के बिछुओं तथा अन्य सामानों का हिसाब-किताब कर रहे हैं. उनकी रुपयों को लेकर उस लड़के के साथ कुछ बहस भी चल रही थी.

सुकेश समझ गया था कि यह सब सामान कल की पूजा का ही है. वह चारू द्वारा पंडिताइन के लिये दिया गया सामानों का थैला लिए पंडिताइन के दरवाजे से उसी समय वापस आ गया था. गाड़ी ड्राइव करते समय रास्ते में उसे अपनी आंखों के सामने कामवाली शांता की गरीबी और उसकी फटी साड़ी तथा फटे ब्लाउज के दृश्य तैरने लगे थे. शांता का काम से ज्यादा ध्यान तो अपना शरीर ढकने में लगा रहता. शांता की याद आते ही सुकेश ने अपनी गाड़ी उसके घर की ओर मोड़ ली थी. दरवाजे पर शांता के सामने आते ही उसने पूजा के सामान का थैला उसके हाथों में पकड़ा दिया था. शांता भौचक्की-सी बाबूजी और उनके थैले में रखी साड़ी, चूड़ी, बिंदी आदि निहारती रह गई थी.

❐

संपर्क : क्वाटर नं-321, सेक्टर-4,
आर.के. पुरम, नई दिल्ली-110022
मो. 8800518246, 901312152
ईमेल : shashi.srivastava49@gmail.com

कहानी

ये सुगबुगाहटें

•

प्रतिभा

आज दादी खुश है. बहुत-बहुत खुश. दंतविहीन, नब्बे वर्ष की दादी, लाठी के सहारे डी.जे. पर डांस कर रही है. थिरकते पांव लड़खड़ाने लगते हैं तो मन्नी संभाल लेता है और दादी फिर शुरू. सांस फूलने लगती है तो मन्नी डी.जे. की स्टेज के कोने में नीचे रखी कुर्सी पर बैठा देता है पर जब सांस सामान्य हो जाती है तो दादी फिर शुरू. फैली दंतविहीन मुस्कान जब थकने लगती है तो दादी एक हाथ से लाठी पकड़े-पकड़े दूसरे हाथ से अपने गाल को सहला देती है फिर दूसरे हाथ में लाठी बदल लेती है और पहले हाथ से गाल सहला देती है और फिर शुरू हो जाती है.

बीच-बीच में दोनों छोटी पोतियां दादी को संभाल लेतीं. दादी कसकर किसी न किसी पोती का हाथ पकड़ लेती और बस टांगों की सारी अशक्तता कहीं छूमंतर हो जाती. मन उड़ने लगता. जाने कहां से ढेर-सा बल आकर थाम लेता दादी को और दादी प्रफुल्लित हो उठती.

दादी के भीतर के जोहड़ सूख चुके हैं. हरियालियों का तो सवाल ही नहीं उठता बस हर वक्त अंधड़ों से जूझती रहती दादी. पर जीवन तो इस सबसे ऊपर है न. निर्लिप्त, निर्विकार, मूकदर्शक भर. दादी की हालत देखकर विचलित होता होगा भला?

जब से घर में मन्नी की शादी की तैयारियां शुरू हुई हैं दादी की आंखों की चमक पूरे घर को चमकाने लगी है. पोपले से मुंह पर मुस्कान का फैलाव पकी फसल की सुनहरी आभा के फैलाव को भी पछाड़ रहा है. नब्बे साल की दादी का अतिरिक्त उत्साह तब और अधिक उजागर होने लगता जब दादी जोर-जोर से बोलने की कोशिश करती और स्वर मुंह में ही उलझते लगते और लड़खड़ाते गिरते प्रतीत होते.

दादी खुश है. बड़ा कमरा बस मिठाइयों से भरा पड़ा है. पूरा हफ्ता भर हलवाई मिठाई बनाता रहा और घर भर में उसकी खुशबू तैरती रहती है और इस गंध से अच्छा कुछ नहीं लगता दादी को. कितना इंतजार था दादी को इस रौनक का. बेटे-बहू के जाने के बाद बिल्कुल सन्नाटा छा गया था इस घर में. हर कोना जैसे बहू की रोने की आवाजों को सीने से चिपकाए बैठा था. कोई और आवाज ठहरती ही नहीं थी. घर में.

जन्म : 26 दिसंबर 1967, सोनीपत (हरि.)
शिक्षा : एम.ए., एम. फिल.
कृतियां : तीसरा स्वर, अभयदान (कहानी संग्रह), परिकथा, कथाक्रम, कथा समय, इन्द्रप्रस्थ भारती, हंस में कहानियां प्रकाशित.

संपर्क : फ्लैट नं. 205, सरगोधा अपार्टमेंट्स, प्लॉट नं. 13 , सेक्टर-7, द्वारका
नई दिल्ली-110075
मो. : 8750067487
ईमेल : pratibha.kmr26@gmail.com

उस एक आवाज में सब आवाजें गुम हो जातीं.

तीनों पोतियों की शादियां भी इन आवाजों के प्रभाव को कम करने में कामयाब नहीं हो पाई थीं. लेकिन आज कुछ और आवाजें धीमे-धीमे पंख पसारने लगी थीं. ये आवाजें घर में कभी अपना आकार बढ़ा लेतीं तो कभी घटा लेतीं. हां, इतना जरूर है कि कुछ सुगबुगाहटें होने लगी थीं. ये सुगबुगाहटें कभी दादी को आश्वस्त करतीं तो कभी खींचकर वापस उसी मंजर की ओर धकेल देतीं जिसका सामना करने से दादी घबराती है. अब तो उन ख्यालों के छोटे से अंश से भी घबराती है दादी. आखिर हर समय एक गिल्ट में जीना कोई आसान थोड़े ही है.

लेकिन आज यह घर फिर से खुलकर सांस लेना चाहता है फिर से शहनाई बजेगी, मिठाइयां बंटेंगी, रीतें चहचहाएंगी और एक बार फिर से इस घर की आबोहवा सांस लेने लायक हो जाएगी.

नब्बे वर्ष की दादी सीधी खड़ी नहीं हो सकती. लाठी टेक कर ही चलती है. जब से बहू बेटा गए मन भी कुबड़ा हो गया. उठ ही नहीं पाया. सारी हुलस जैसे सूख गई और मन का सारा फैलाव सूती कपड़े की तरह सिकुड़ गया.

अब एकमात्र उम्मीद मन्नी है. दादी का पोता मन्नी. जब तीन लड़कियों के बाद इतनी मन्नतों से पैदा हुआ तो अमूल्य संपत्ति से भी ज्यादा कीमती था इसलिए नाम रखा गया मनी. परदादी का क्षेत्रीय अभ्यास इस शब्द को परिवर्तित करते हुए मन्नी तक ले आया. मनी बदलते-बदलते मन्नी हो गया.

इसी लड़के की चाह में तो अपने आप को कैद करती चली गई इन जंजीरों में. तब कहां सोच पाती थी? विवेक जैसे किसी गहरे कुएं में दबा दिया था दादी ने. आज सोचती है तो समझ नहीं पाती है. संस्कार हावी थे या कोई दमित इच्छाएं या फिर अमानवीयता का एक ऐसा ज्वार जो सालों उतरा ही नहीं और जब उतरा तो अपने साथ सब बहा कर ले गया. दादी पकड़ने के लिए पीछे भागती रही पर वो उतराव तो हाथ ही नहीं आया और यह घर चीखों से भर गया.

वर्षों इंतजार किया है इन लम्हों के लिए. वर्षों हो गए इस घर के कोनों को मुस्कराए. वर्षों से मन का इत्मीनान भटक रहा है और दादी है कि खाली खोखली देह के भीतर बेचैन मन को लिए एक भटकती रूह की तरह हो गई है.

कभी-कभी इतनी बेचैन हो जाती दादी कि घर के गेट पर चारपाई डलवा लेती और घंटों गली में आते-जाते लोगों में कुछ ढूंढती रहती पर अपनी बेचैनियों के निदान कहीं नहीं मिलते दादी को. फिर किसी को कहकर पोतियों के फोन नंबर मिलवाती और किसी पोती से बात कर लेती. ढेरों आशीर्वाद देती. फिर लगता मन का बोझ कुछ कम हुआ है. उनमें भी दोनों छोटी पोतियों से बात कर पाती. बड़ी रश्मि तो सालों से नाराज है. वह तो दादी से बात ही नहीं करती.

रातें काटनी भारी हो जातीं दादी को. नींद से डर लगता. आंख बंद करते ही बहू आकर खड़ी हो जाती और एक ही बात कहती, 'आपके कारण मेरे बच्चे अनाथ हो गए. मेरी बेटियों ने तो कुछ नहीं देखा जिंदगी में. इस उम्र में मां का साया सिर पर होना बड़ा जरूरी होता है. आपकी जिद्द के कारण उनकी मासूमियत छिन गई. उनकी पढ़ने-लिखने की उम्र. भाई और बीमार मां बाप को संभालने में निकल गई. उनका तो मायका ही खत्म हो गया. कोई कितना ही करे मां की जगह नहीं ले सकता.' बहू का एक-एक शब्द भाले की तरह चुभता और लहूलुहान करता रात-रात भर.

बड़ी रश्मि तो उस दिन के बाद से दादी को माफ नहीं कर पाई. जब तक इस घर में रही अपने कमरे में ही रही. मां का ध्यान रखती, घर के काम देखती, भाई का ध्यान भी रखती. बाप के साथ अस्पतालों में भटकती रही पर दादी से बोलना छोड़ दिया. मां बाप के जाने का कारण तो दादी ही थी.

मूक अवसाद शादी के बाद भी उसे घेरे रहा. कभी लौटकर मायके नहीं आई. भाई-बहनों से बाहर ही मिलती. किसी रेस्टोरेंट में, मॉल में या किसी सिनेमा में सब को बुला लेती और सारे दिन उनके साथ रहती. कभी दादी को न मिलने आई, न दादी के बारे में कोई बात करना चाहती.

अब मन्नी की शादी एक उम्मीद बनकर आई है दादी की जिंदगी में. शायद सब ठीक हो जाए. शायद रश्मि घर आ जाए. शायद यह खुशी उसके मन को पिघला दे. यह उम्मीद दादी को जिलाए है. आखिर चारों बच्चों की कसूरवार है.

सुना था दादी ने. जब अपनी मां से लड़ रही थी रश्मि, 'आपको क्या कमी लगती है मुझमें, क्या कमी है हम तीनों में, क्या चाहिए जो हम तीनों नहीं दे सकतीं, ऐसा क्या है जो लड़का दे देगा, सुंदर हूं, गोरी हूं, इंटैलिजेंट हूं, इतने ढेर अवार्ड लाती हूं, कभी आपका सिर झुका मेरे कारण? फिर क्या चाहिए? किस चीज के पीछे भाग रही हो? अपने पैरों पर खड़ी होकर पैसे कमाकर भी दिखा दूंगी. आपको पता है आपका यह पेट देखकर मेरा मजाक उड़ाती हैं मेरी सहेलियां. जो नहीं है उसके कारण जो है उन्हें तो परेशान न करो. मेरा बोर्ड एग्जाम है और मैं जरा भी पढ़ नहीं पा रही हूं. तीन महीने बचे हैं मेरी परीक्षा को और आपको गोद भराई की पड़ी है. कभी हमारे बारे में भी तो सोचो. मेरी बारहवीं की परीक्षा है. मेरा कैरियर इसी पर टिका है. साइंस में बहुत पढ़ना पड़ता है. छोटी की दसवीं की परीक्षा है और हम दोनों ही पढ़ नहीं पा रही हैं. प्लीज मां, हमारे बारे में कुछ तो सोचो. मार्च में हम दोनों की परीक्षा होगी और आपकी डिलीवरी. मुंहफट होकर रश्मि बोले जा रही थी.'

'कोई कमी नहीं है बेटी तुम में, पर तेरी दादी के लगातार प्रैशर से मैं हार चुकी हूं. बहुत प्यारी हो तुम तीनों, पर समाज?

'कैसा समाज? मेरी परीक्षा देने कोई रिश्तेदार या समाज नहीं आ रहा, आपका

कोई समाज मुझे अच्छे मार्क्स नहीं दिला सकता है. कम से कम एक माहौल तो दे सकते हो पढ़ाई का.' थाली पटककर चली गई थी रश्मि.

बड़ी देर तक रोती रही थी मां. बेटियां नजरंदाज हो रही थीं. मक्खन जैसी बेटियां काली पड़ने लगी थीं. उसके बाद भरसक कोशिश करने लगी थी बेटियों को एक शांत अनुकूल माहौल देने की पर कुछ न कुछ हलचल मची रहती थी.

एक अपराधबोध था. बेटियों की कसूरवार है. यह बोध मारे डाल रहा था मां को. सारा परिवार खुश है लड़का आने वाला है. यह बोध पल भर का इत्मीनान जरूर देता था पर उसके बाद भीतर गहरा सन्नाटा पसरने लगता. रश्मि की किसी बात का कोई जवाब नहीं था. उसका एक-एक शब्द मन के बदन पर चींटियों की तरह रेंगता रहता और बेचैनी बढ़ती रहती. रश्मि के चेहरे के भावों का कसैलापन घर की रसोई में बनते सारे खाने में अपने आप घुलता जाता और मां बस देखती भर रहती कसैलेपन की परतों को फैलते हुए.

कई बार दादी ने देखा है रात में सोती बेटियों को ममता के लिहाफ ओढ़ाती मां को. कभी-कभी वह बेटियों के पैर अपने आंसुओं से ही धो रही होती. कितनी-कितनी देर कुम्हलाती बेटियों को एकटक निहारती रहती. और कभी हाथ अपनी कोख पर चला जाता और खुश होना चाहती तो रश्मि का चेहरा आगे आकर खड़ा हो जाता. छोटी दोनों रश्मि की तरह मुखर नहीं थीं पर हर बार अपनी बड़ी बहन के साथ ही खड़ी होतीं. मुंह से चाहे एक बोल न निकले पर आंखें और बॉडी लैंग्वेज तो रश्मि की बांह पकड़कर खड़े होते.

मां, बेटियों को स्कूल भेजने के बाद, घर के कामकाज निबटाकर कभी शीशे के आगे खड़ी होती तो मन पुलक से भर उठता. बेटियां तो अपने घर चली जाएंगी ये बेटा ही रहेगा पास में. बुढ़ापे का सहारा तो यही बनेगा. यह तो सच है ही. पर बेटियां भी उतनी ही प्यारी लगतीं जितना बेटा. कभी मां अपने मन को टटोलती तो पाती कभी बेटियां भारी नहीं लगीं. मां की ममता ने कभी पक्षपात नहीं किया. बेटा सूरज होता है तो बेटियां चंदा. आसमान की शोभा तो दोनों से है लेकिन रश्मि को कैसे समझाती मां? कैसे विश्वास जगाती अपने लिए. रश्मि की नाराजगी असहनीय थी मां के लिए.

'जब भाई का चेहरा देखेगी तो सारी नाराजगी दूर हो जाएगी. देख लियो बहू लड़ेंगी तीनों उसे गोद में लेने के लिए.' पर सास की बात आश्वस्त नहीं कर पाती थी बहू को.'

कभी सुबह उठने के बाद भी बिस्तर में ही सिमटी रहती. एकाएक खिड़की के बाहर चहलकदमी करते उजाले के साथ गुत्थम- गुत्था होने को जी चाहता और जी चाहता उसी शून्य में खड़ी होकर इस उजाले से पूछे, मेरे जीवन के दरवाजे पर दस्तक क्यों नहीं देते? कब तक यूं दिशाहीन भटकती रहूंगी.

गोद भराई पर कमरे से बाहर नहीं निकली थी रश्मि. अगले दिन प्रीबोर्ड था. फिजिक्स की तैयारी में लगी रही. खाने की प्लेट अंदर पहुंचाई गई थी. फिर जब पता चला कि दोनों बुआ सात दिन तक घर में ही रुकेंगी और रात में रश्मि के कमरे में ही सोएगीं तो अच्छा-खासा झगड़ी थी मां से.

'मेरा कमरा क्यों दिया. पहले तो सात दिन के लिए रोकना नहीं चाहिए था. आप को पता है न मेरे प्री बोर्ड चल रहे हैं. फिर मेरा कमरा दे दिया. घर में और भी तो कमरे हैं.'

'धीरे बोल, बुआ सुन लेगी तो नाराज हो जाएगी. मैंने तो तेरी दादी का कमरा दिया था उन्हें पर वो मानी नहीं. बोलीं, रश्मि के कमरे में ही सोएंगी, तो क्या करती मैं.'

'मना कर देतीं. नाराज होने देतीं. क्या बिगड़ जाता? अब जो मेरा बिगड़ेगा उसका कोई ध्यान नहीं रहता किसी को ये टाइम मेरे लिए कितना कीमती है ये क्यों नहीं समझतीं आप.' पैर पटकती हुई चली गई थी रश्मि.

दोनों बुआएं देर रात तक अपनी-अपनी गृहस्थियां संभालती रही थीं. आखिर रश्मि को दादी के खर्राटों के बीच फिजिक्स की तैयारी करनी पड़ी थी.

प्रीबोर्ड में मार्क्स कम आए थे. बहुत लड़ी थी मां से. पर अब मां चुप रहने लगी थी.

'तो क्या हुआ बेटी, घर में कोई कमी नहीं. हमने कोई नौकरी नहीं करानी तुझसे. बस पास होनी चाहिए. कभी किसी दूसरे को भी टॉप करने दे. तू तो अब भाई के आने की खुशियां मना.' पापा के लिए बेटी का ये झगड़ा बेबुनियाद था.

'कम मार्क्स आए तो किसी अच्छे कॉलिज में एडमिशन नहीं होगा. मुझे कुछ बनना है. कुछ करना है लाइफ में. डॉक्टर बनना है मुझे.' पापा उठकर चले गए थे. जाते-जाते बेटी के सिर पर आशीर्वाद का हाथ रख गए थे. मां भी रसोई में चली गई. रश्मि अपनी छटपटाहट के साथ वहीं बैठी रह गई.

मां का पेट ज्यों-ज्यों बढ़ रहा था दादी का उल्लास बढ़ रहा था. कई तरह की तैयारियां बढ़ रही थीं. रश्मि को जब मां का सपोर्ट चाहिए था मां अपने में उलझी थी. कभी इच्छा होती कोई कॉफी बना दे ताकि देर तक पढ़ सके. पर मां की ओर देखती तो वो खुद इतनी कठिनाई से उठ-बैठ पा रही थीं. पैर सूजे थे, बी.पी. बढ़ा था, कम्प्लीट बैडरेस्ट पर थी. क्या करती रश्मि? बस मन मसोसकर रह जाती.

बार-बार गरिमा की मम्मी याद आती. गरिमा भी तो अकेली लड़की है. उसका भी तो कोई भाई नहीं है. उसकी मम्मी हर समय गरिमा का ध्यान रखती हैं. थोड़ी-थोड़ी देर में कोई फल काटकर ले आती हैं. कभी ड्राई फ्रूट्स, कभी जूस. एक

दिन ही तो गई थी गरिमा के घर. घर लगा था वो. एक अलग ही तरह की सम्पन्नता वहां महसूस की रश्मि ने.

पहली बार रश्मि ने अनुभव किया था कम पैसे के साथ, किराए के छोटे से घर में भी कोई संपन्न हो सकता है.

दो मार्च, रश्मि की परीक्षा और मां अस्पताल में. कोई रश्मि की सुध लेने वाला नहीं. सब लड़के के स्वागत में व्यस्त और मस्त.

खाना भी बाहर से मंगा कर रश्मि ने खुद भी खाया और बहनों को भी खिलाया.

घर में खुशियां थीं पर रश्मि बेचैन थी. कैसे करे स्थितियां अपने अनुकूल? कितना सारा सिलेबस रहता था और वो कंसंट्रेट ही नहीं कर पा रही थी. जानती थी फोकस बिखर रहा है. आंखों के सामने किताब रहती और मन उन्हीं सहेलियों के घरों के चक्कर काटता रहता जहां पढ़ाई का माहौल है. मन का बिखराव समेटे नहीं सिमट रहा था. किससे बात करे? किससे अपने मन की स्थिति डिस्कस करे. समय था कि भागता जा रहा था. अपने किसी टारगेट को अचीव नहीं कर पा रही थी रश्मि. इसलिए बेचैनी और बढ़ती जा रही थी.

अब तो मां भी पहुंच से बहुत दूर थी. लग रहा था किसी रेगिस्तान में खड़ी है और गर्म हवाएं अपने थपेड़ों से उसके कदम उखाड़ने का हर संभव प्रयास कर रही थी और रश्मि बस अपनी सारी ताकत लगाकर अपने पैर जमाने की कोशिश कर रही थी, भीतर एक ही डर कि अब गिरी तब गिरी.

बायो वाली मैम बड़ी अच्छी थीं. सारे स्कूल के स्टूडेंट्स उनको एनर्जी बूस्टर कहते थे. सबका स्ट्रेस चुराने में माहिर. वैसे वो स्कूल की काउंसलर भी थी. रश्मि ने अपनी सारी समस्या उनके सामने खोलकर रख दी थी.

बहुत कुछ समझाया था मैम ने. समझ भी आ गया था. पर सब करना नामुमकिन लग रहा था. हर वक्त बस एक गुस्सा तारी रहता था.

मां ने अस्पताल बुलाया था तीनों बहनों को. भाई का चेहरा तो देख लो. गोद में तो उठा लो.

मना किया था रश्मि ने पर दादी और पापा जबरन ले गए थे. अस्पताल के कमरे में घुसते ही मां खिल उठी थी. आ जाओ. लो देखो अब तुम भी भाई वाली हो गई हो. कोई कमी नहीं रही अब तुम्हारे जीवन में.

मां ने छोटी की गोद में रख दिया था लड़का. छोटी खुश भी थी. उसके छोटे-छोटे हाथों को अपने हाथों में लेकर खुश थी और मां उसके मुस्कराते चेहरे को देखकर निहाल हो रही थी. रश्मि ने गोद में लिया था भाई को. क्षण भर देखती रही थी उसका छोटा सा मासूम चेहरा. मां बाप की अमूल्य निधि. जिसके बिना उनका जीवन व्यर्थ था. दादी के वंश को आगे बढ़ाने वाला. पल भर में वापस मां की गोद में रखकर रश्मि बाहर आ गई. उसे अभी बहुत सारा सिलेबस पूरा करना था. सारी ग्रैमर रिवाइज करनी थी. सारा राइटिंग पोर्शन रिवाइज करना था. उसे तो जल्दी से जल्दी घर पहुंचना था.

मां बस रश्मि की शक्ल देखती रही. चेहरे पर मुस्कराहट की खुशबू के बादलों का इंतजार करती रही. पर रश्मि का चेहरा भावहीन बना रहा. मां बस सकपकाती सी रही. पल भर में ही रश्मि की गुनहगार हो गई.

हृदय में चिंता की एक रेखा खिंचती चली गई और मां का ध्यान लड़के से हटकर रश्मि की ओर मुड़ता चला गया. बिखरता ध्यान किसी तरह जबरन पकड़ा मां ने.

घर में छटी के प्रोग्राम की जोर-शोर से तैयारी चल रही थी. पापा सारा दिन बस उसी की तैयारी में लगे रहते थे. हलवाई बैठा दिए गए थे. कमरा मिठाइयों से भरा जा रहा था. सब के नए कपड़े, मां के लिए नया रानी हार, लड़के के लिए सोने की जंजीर. सुंदर निमंत्रण पत्र, गली के लोगों से एक-एक कमरा ले लेना रिश्तेदारों को ठहराने के लिए. शहर के सबसे अच्छे केटरर को रखना. तीनों लड़कियों के लिए सोने के टॉप्स. दादी के लिए भारी से कड़े. शायद शादी जितनी तैयारी. उन सब लोगों को खास तौर पर बुलाने का प्रयास किया जा रहा था जिन्होंने कभी न कभी निपूता होने का ताना मारा था. दादी कोई ताना नहीं भूलती. जब तक उस ताने का जवाब मुंह पर देकर नहीं मारती उसे चैन नहीं मिलता. इस अवसर को दादी हाथ से जाने नहीं देना चाहती.

रश्मि ने बहुत समझाने की कोशिश की कि अगले दिन कैमिस्ट्री की परीक्षा है. इस कार्यक्रम को एक महीने के लिए स्थगित किया जाए पर...

'बेटा छटे दिन ही होता है ये प्रोग्राम. यही रीत है. रिवाज से हटकर थोड़े ही कुछ होता है. तू तो इतनी इंटैलिजेंट है पास हो ही जाएगी.'

'यह समझ से परे था कि पास होने भर से कुछ नहीं होगा. इतना कॉम्पीटीशन है कि कहीं किसी अच्छे कॉलिज में एडमिशन नहीं होगा.'

रश्मि ने ऊपर स्टोर में अपने आप को बंद कर लिया था. रोई थी जोर-जोर से. पुराने ट्रंकों के बीच घुसकर बैठ गई थी. कबाड़ के साथ खुद को भी कबाड़ अनुभव कर रही थी.

क्या करे कुछ नहीं सूझ रहा था. समय बीतता जा रहा था और वह अपनी एकाग्रता को विच्छिन्न होकर बिखरता देख रही थी. फिर लगा दीवारों से सिर टकरा रही है. अपने ही निश्चयों को यूं बहता देखना उसके लिए कष्टकर था.

घर में रिश्तेदारों की भीड़ लगती जा रही थी. दूर-दूर से रिश्तेदार आकर जुटने लगे थे. रश्मि के कमरे पर बुआओं का कब्जा था. सारे घर में मिठाई और उत्सव की खुशबू थी. दादी का उत्साह सारे घर को रोशनी से भर रहा था और सारी रात लड़के के रोने की आवाज से घर जूझता रहता. वह दिन में सोता और भीड़ नाचती. रात में भीड़

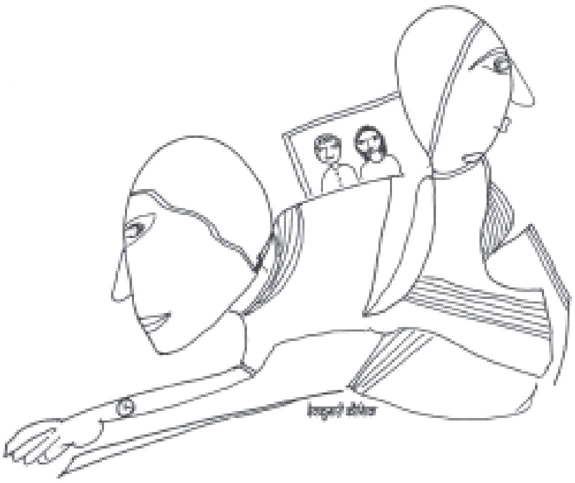

सोती और वह रोता. और रश्मि के लिए दिन और रात एक जैसे हो गए थे. ऊपर छत पर छज्जे के नीचे वाले स्टोर में रश्मि ने अपने आप को बंद कर रखा था. पसीने से तरबतर वह वहीं कुछ एकांत पाती थी.

छटी की सारी रस्म में रश्मि कहीं नहीं थी. मामी ने कहा भी था, 'लड़कियों के पेपरों के बाद कर लेते. बारहवीं के नंबर तो सारी जिंदगी काम आते हैं अच्छे आ गए तो सारे रास्ते खुल जाएंगे और अच्छे नहीं आए सारे रास्ते बंद. फिर रश्मि तो टॉपर है. कुछ तो सोचना चाहिए था.' मामी की बात को भी अनसुना कर दिया गया. कोई कुछ नहीं बोला. आखिर मामी चुप कर गई. वही चुपचाप खाने की प्लेट छज्जे के नीचे वाले स्टोर में दे जाती. उन्हें देखते ही रश्मि ऐसी कृतज्ञता से भर जाती जैसे दुनिया की सारी संपत्ति कोई रश्मि की झोली में डालने आ गया है.

फोन रख गई थी मामी पास में. 'कुछ भी चाहिए हो, फोन कर दियो यहीं पहुंच जाएगा सब कुछ.' रात में कॉफी का कप ले आई मामी कि देर तक पढ़ने में आसानी होगी. कॉफी का कप हाथ में था और गरम नमकीन आंसू कॉफी के कप में.

'थैंक्यू मामी, इस समय इसकी सबसे ज्यादा जरूरत थी.' और बांध जैसे टूट गया था.

मामी ने सीने से लगाकर बहुत प्यार किया था. संभल गई थी रश्मि.

रात भर पढ़ती रही थी. सुबह चाय के कप के साथ मामी ने ही उठाया था. रश्मि पढ़ती रही थी और मामी मुंह में परांठे की एक-एक बाइट डालती रही थी. परीक्षा अच्छी नहीं गई. सिलेबस तक रिवाइज नहीं कर पाई.

छटी का प्रोग्राम बहुत अच्छा हुआ. दिल खोलकर पापा ने पैसा खर्च किया. पर रश्मि के लिए अभी भी समझ से बाहर था यह रुतबा, समाज में स्थान. पहेली सुलझने में ही नहीं आई कि लड़के के साथ समाज में स्थान ऊंचा हो गया.

परीक्षा तो ठीक नहीं हुई इसलिए परिणाम का भी विशेष इंतजार नहीं था पर भीतर कहीं कुछ बुझता चला गया था. दोनों छोटी भाई के साथ मस्त हो गई थीं. मां और दादी भी लड़के में मस्त और व्यस्त थी.

रश्मि को एक कोलाहल घेरे रहता था. हरदम मन उचटता जाता था. बेबसी के काले चेहरे को देखकर डर गई थी रश्मि. मन की कचोट उसे अपने में समेटती चली जा रही थी. अपना खुड्डी जैसा कमरा एक आवास स्थल बन गया था. इच्छाएं मन में उठतीं. वहीं क्षण भर घुमड़ती रहतीं फिर वहीं किसी हवा के कण के साथ चिपककर किसी दूसरे लोक में पहुंच जातीं और रश्मि मूकदर्शक-सी बनी देखती रहती.

कभी सुबह उठने के बाद भी बिस्तर में ही सिमटी रहती. एकाएक खिड़की के बाहर चहलकदमी करते उजाले के साथ गुत्थम-गुत्था होने को जी चाहता और जी चाहता उसी शून्य में खड़ी होकर इस उजाले से पूछे, मेरे जीवन के दरवाजे पर दस्तक क्यों नहीं देते? कब तक यूं दिशाहीन भटकती रहूंगी. कब तक आंखें फाड़े यूं ढूंढती फिरूंगी ऐसे आगत को जो हवाओं का रुख बदल दे या चूस ले हवा की बेरुखी को और उसे एक ऐसे समतल रास्ते पर ला खड़ा करे जहां से निकलने वाली हर पगडंडी लहलहाते खेतों की ओर जाती हो.

मां की आवाज भी कभी-कभी अनसुनी कर अपने में खोई रहती रश्मि. परीक्षा परिणाम के साथ आने वाली दुश्चिंताओं की आहट पल भर में अस्त-व्यस्त कर देती रश्मि को. सबका एडमिशन अच्छे-अच्छे कॉलिजों में हो जाएगा और वह जाने कहां भटकेगी.

टॉपर को घर के लोगों ने ही धूल चटा दी. घर में ही एक अलग दुनिया में रह रही थी रश्मि. दूर तक फैले सागर में उभरे एक टापू की तरह. पानी पर रहते हुए भी उससे विलग. अपने ही अस्तित्व की जमीन तलाशती रश्मि.

परीक्षा परिणाम तो आया पर रश्मि के लिए पैरों के नीचे जमीन तलाशनी मुश्किल हो गई थी. जिनसे कॉम्पीटीशन था सब बहुत आगे थे और वो रेस में सबसे पीछे.

पूरा दिन बाहर नहीं निकली थी. 'यार, वो उसका भाई हुआ था न उन्हीं दिनों. उसे पढ़ने का टाइम नहीं मिला होगा. भाई के आने की खुशियां मनाती रही होगी. 'खिलखिलाकर हंस दी थीं बाकी लड़कियां. जब मार्कशीट और करेक्टर सर्टिफिकेट लेने स्कूल गई थी तो कानों तक पहुंच ही गई थीं ये हंसी की लहरियां.

बस उसी समय भाग आई थी. न उलझना चाहती थी. न कुछ कहना-सुनना. बस लुप्त हो जाना चाहती थी.

बायो वाली मैम मिलना चाहती थीं पर रश्मि नहीं गई, कैसे जाती? रश्मि ने उन्हें निराश किया था, कैसे उन्हें फेस करेगी?

दादी खुश थी रश्मि पास हो गई. मां ने रश्मि की आंखों की उदासी को जरूर पहचान लिया था.

'बेटा, मुझे माफ कर दे, तेरी कसूरवार हूं मैं. जब तुझे मेरा सबसे ज्यादा सपोर्ट चाहिए था मैं दूर जाकर खड़ी हो गई.'

मां के हाथों को झटककर रश्मि अपने कमरे में चली गई.

'बेटा, तेरी शादी इतने पैसे वाले घर में

करूंगा कि तुझे नौकरी करने की कभी जरूरत नहीं पड़ेगी.'

किसी से कुछ नहीं बोली रश्मि. बस आंखों से मां, बाप और दादी की तसल्ली को खुरचती भर रही और उस खुरचन को उन्हीं के चेहरे पर गुलाल की तरह मसलकर चली गई.

तीनों अवाक् उसे जाते हुए देखते रहे. उसके कदमों की आहट तक उसके हृदय के दुःख की सिसकियों की बातें कर रही थी. तीनों रश्मि को खुश देखना चाहते थे पर रश्मि की खुशी की बुनियाद को हिला जानकर भी उसके दुःख में सहभागी नहीं हो पा रहे थे.

अपने जीवन को यूं किसी के हाथों चाहे वो अपने ही हों चलायमान होना पचा नहीं पा रही थी रश्मि. जिस भी दिशा की ओर रुख करती बस कुछ दूरी पर टी प्वाइंट पर आकर खड़ी हो जाती. बुत बनी पल भर खड़ी रहती. फिर जिस भी दिशा में आगे बढ़ती रास्ते बंद होते लगते. सड़कें सिमटने लगतीं.

एक छोटे से प्राइवेट कॉलेज में रश्मि का एडमिशन हुआ. हर पल एक ही अहसास कचोटता रहता कि कॉम्पीटीटर्ज से बिना लड़े हार गई. लगता धूल चाट रही है. मुंह में आंखों में धूल ही धूल है. कुछ भी स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ रहा. आधी क्लास पी.एम.टी. की परीक्षा पास कर चुकी थी और एक रश्मि है कि बी.एस.सी. के अलावा कोई ऑप्शन नहीं. इच्छा हुई कहीं भाग जाए या धूल के कण जितनी सूक्ष्म हो जाए कि कोई देख ही नहीं पाए. हार का सामना करना आसान नहीं. कारण चाहे जो भी रहे हों.

एक बात की राहत थी उस कॉलेज में रश्मि की क्लास का कोई नहीं था. अब नए सिरे से सब आरंभ होना था. मन लगाने की कोशिश कर रही थी रश्मि.

भाई का लालन पालन एक राजकुमार की तरह हो रहा था. नहीं, लड़कियों के साथ कोई भेदभाव नहीं हो रहा था पर भाई के लिए कुछ अदृश्य-सा अतिरिक्त दुलार था. वह लड़कियों के लिए नहीं उमगा था. न उनकी छटी इतने धूमधाम से मनाई गई. न रिश्तेदारों के यूं जमावड़े हुए. हर बार छोटा-सा मुंह बनाकर एक ही बात कही गई, 'चलो, कोई बात नहीं, लक्ष्मी आई है. अपनी किस्मत साथ लाती हैं लड़कियां.'

हां, हर अमावस और पूर्णमासी पर घर आने वाली पंडिताइन जरूर बोलकर जाती, 'मैंने तो सोचा था इस बार चांदी का कुछ लूंगी. पर.'

आगे कहती कुछ न थी पर अस्पष्ट-सा गूंजता रहता था कुछ. और इस बार चांदी पर सोने का पानी चढ़ा हार लिया था उसने और दादी जो सब्जी वाले से एक-एक रुपये के लिए लड़ती रहती है खुशी-खुशी पंडिताइन के लिए हार बनवाकर लाई थी.

दादी कहती है किसी की नजर लग गई इस घर को. किसी की हाय लग गई.

लड़के को हुए अभी छह महीने ही हुए थे कि मां की तबीयत एकदम बहुत खराब हो गई. कई दिनों तक बुखार नहीं उतरा. टैस्ट हुए तो कैंसर निकला, लास्ट स्टेज. दादी मां के लिए इतनी परेशान नहीं थी जितनी उस लड़के के लिए थी. मां का दूध पीते-पीते कहीं कैंसर इसके अंदर तो नहीं पहुंच गया. दादी भटकती रही डॉक्टरों के पास और पूछती रही थी.

घर का नक्शा ही बदल गया और पापा का भी. पापा एक दिन में बूढ़े हो गए और मां एक ही दिन में जैसे जिंदगी के आखिरी छोर पर पहुंच गई.

एक दिन दादी पापा को कह रही थी, 'किसी तरह बहू को बचा ले, खेत बेच दे, दुकान बेच दे, देश में इलाज न हो तो विदेश ले जा. मेरे सारे गहने बेच दे. पैसे की कोई परवाह न कर. बस किसी तरह बहू को बचा ले. इस लड़के को मां की सबसे ज्यादा जरूरत है.'

लड़के के पालन पोषण में कोई कमी दादी को गवारा नहीं थी. सब काम दादी ने अपने हाथ में ले लिए. लड़के की मालिश, खाना-पीना, नहाना-धोना. पर ये भी महसूसती थी कि लड़के को मां तो चाहिए ही.

पापा बस मां को लेकर भटकते रहते, एक अस्पताल से दूसरे अस्पताल, दूसरे से तीसरे. किसी भी अस्पताल में दिलासा नहीं मिली थी. मां के पास सब था. अब तो लड़का भी था पर समय नहीं था. अब जिजीविषा चरम पर थी पर अब सब हाथ से छूट रहा था.

कीमो शुरू हो गई. मां की तबीयत दिन पर दिन गिर रही थी. जितना मां सांसों को पकड़ने की कोशिश करती उतना ही वह फिसल-फिसलकर दूर भागतीं.

मां की देखरेख के लिए एक नर्स रख ली गई थी. पर मां को भावनात्मक सुरक्षा चाहिए थी जो नहीं मिल रही थी. पापा मां से बहुत प्यार करते थे पर जाने क्यों इस समय विमुख होते जा रहे थे. किसी से बात नहीं करते थे. पापा की आंखों की चमक खत्म हो गई थी जो लड़के को देखकर भी लौट नहीं रही थी.

एक दिन मां ने रश्मि को पास बुलाया था. हाथ जोड़ दिए थे रश्मि के आगे.

'तेरी कसूरवार हूं बेटा. तेरे जीवन की सारी रोशनी मैंने अंधेरे में बदल दी. मैं महसूस कर रही हूं सबसे बड़ी इच्छा का पूरा न होना क्या होता है. मैं जानती हूं उस अधूरेपन को सहना कितना मुश्किल है. मन की अपंगता को ढोना आसान नहीं है. तेरा डॉक्टर बनने का सपना मेरे कारण पूरा नहीं हो पाया. तू मदद मांगती रही पर मुझे तो लड़का पाने की जल्दी थी. अपनी उस अंधी इच्छा के सामने मुझे कुछ नहीं दिखा. मुझे माफ कर दे बेटा.'

रश्मि बस रो दी थी. बांध टूट गया था. सिसकियों से कमरे का रोम-रोम गूंज उठा था.

क्षण भर बाद जैसे हल्की हो गई थी रश्मि. मां को दिलासा दिया था और मां की आंसुओं की नदी में सारा गुस्सा बह जाने दिया था रश्मि ने.

मां को इस अंतिम समय में बेटियों से

मोह होने लगा था. कुछ भी हो अपने पेट की तो जायी थीं. अंतड़ियों में तो एक ही खून बह रहा था. किसी न किसी बेटी को पास बिठाए रखतीं.

रश्मि ज्यादा समय मां के पास ही रहती. वहीं बैठकर पढ़ती रहती. मां को बेटी का और बेटी को मां का सान्निध्य एक ताकत से भर देता था. रश्मि की सारी शिकायतें, सारी नाराजगियां मां के दामन में जाकर छुप गई थी. रश्मि को मां अपने बहुत नजदीक लगने लगी. त्वचा पर किए लेप की तरह पतली-सी परत बनकर हर पल दिल-दिमाग पर छाई रहती.

दिन पर दिन तबीयत बिगड़ रही थी. जिस गति से तबीयत बिगड़ रही थी उसी गति से मां-बेटी का रिश्ता प्रगाढ़ हो रहा था.

इंद्रियों पर नियंत्रण खत्म होने लगा था. ज्यादा समय होश नहीं होता था. जितना समय होश भी होता था तो बोलने सुनने में असमर्थता बनी रहती थी. बिस्तर से उठना संभव नहीं रह गया था. सब बिस्तर पर ही होने लगा. डॉक्टर ने कह दिया था बैडरिडन होने के बाद एक ही महीना निकाल पाते हैं ज्यादातर पेशेंट्स रश्मि सारा समय मां के पास बनी रहती.

मां का सब बिस्तर पर होने लगा था. काम बढ़ता देख नर्स काम छोड़कर चली गई . रात भर पापा और रश्मि बारी-बारी से जागते.

पापा मां के साथ-साथ जा रहे थे. जीवन के प्रति मोह खत्म हो रहा था या जीवन की अनिश्चितता को झेल नहीं पा रहे थे या मौत को इतने करीब से देखकर बिफर पड़े थे या अकेलेपन की कल्पना मात्र से संतुलन खोते जा रहे थे या ये सब कारण थे.

रश्मि का कॉलिज जाना बंद हो गया. हर पल मां के साथ, मां के लिए था. कभी-कभी तो अपलक निहारती रहती मां को. पलक झपकाने से भी डरती कि कहीं चली न जाए. पापा रात भर मां का हाथ पकड़कर बिल्कुल पास बैठे रहते जैसे मां की सांसों की डोर को पकड़कर बैठे हों.

रश्मि पढ़ाई भूल गई थी. जिंदगी की किताब को कंठस्थ करने में लग गई. कॉलिज में सहेलियां प्रोक्सी कर रही थीं. घर में मुर्दनी छाई थी.

मां की कैंसर की खबर के दिन से दादी के व्रत, उपवास, मन्नतें, प्रार्थनाएं कुछ नहीं थमा था और न थमा कैंसर के वायरस का तीव्र गति से फैलना. प्रतियोगिता हो जैसे. दादी की आस्था और कैंसर के वायरस में.

आखिर हार गई थी दादी.

लड़के को जी भर देखकर, रश्मि के आगे आंखों में ही हाथ जोड़कर माफी मांग कर. पिताजी से आंखों में ही बच्चों की देखरेख का वादा लेकर मां ने आंखें मूंद लीं.

मां के गरम हाथ को ठंडा होते रश्मि ने महसूस किया था. पापा की रूह ने महसूस कर लिया था रूह का एक हिस्सा कटकर अलग होना.

किसी आघात को सहने के लिए यदि कोई मानसिक रूप से तैयार है तो इसका मतलब यह तो नहीं कि वो आघात सहना उसके लिए आसान हो जाएगा.

पापा की आंखों का एकाकीपन उन्हें ऐसे अवसाद की ओर धकेल रहा था जहां से उबरकर, संभलकर वापस आ पाना नामुमकिन लग रहा था.

लड़का ज्यादा रोने लगा था. उसका दूध नहीं छिना था जैसे आंतें सिकुड़ गई थीं. क्या गया उसे नहीं पता था पर सब चला गया था. उसका आकाश काला स्याह हो गया था. टिमटिमाते तारे एकाएक लुप्त हो गए थे.

रश्मि ने शरीर को लाश में तब्दील होते पहली बार देखा था. कोई इंसान अब कभी नहीं दिखेगा. मां अब कभी नहीं दिखेगी. इस खालीपन को कोई भर पाएगा? शायद नहीं. इतने अधिकार से किसी से लड़ पाएगी?

एक सूनापन घर की दीवारें भी महसूस कर रही थीं. घर की वादियों में बस सिसकने की आवाजें गूंजती थीं. जो घर के सन्नाटे को और गहरा कर देती थी.

लड़का जोर-जोर से सारी रात रोता था. रश्मि परछत्ती पर पुराने ट्रंकों के बीच दुबककर रोती थी. पापा मन ही मन रोते थे. दोनों छोटी रोज सुबह स्कूल के लिए तैयार होकर नाश्ता करने किचन में आतीं और मां को न देखकर कुक को देखतीं तो परांठों पर रखे मक्खन के ऊपर गिरे उनके आंसू मक्खन को और नमकीन बना देते थे.

सबकी जिंदगी एक ऊबड़-खाबड़ बेतरतीब रास्ते पर आकर खड़ी हो गई थी.

मां के जाने के तीन महीने बाद पापा को हार्ट अटैक आया था. कोई दर्द बहुत गहरे तक चला गया था और पापा उसके असर से अपने आप को निकाल नहीं पा रहे थे.

छह महीने बाद दूसरा अटैक और पापा मां के पास चले गए. घर की बत्तियां हमेशा के लिए बुझ गईं.

दादी अभी भी यही कह रही थी किसी की नजर लग गई मेरे घर को.

रश्मि को पापा के जाने के बाद रोना नहीं आया था. वह एकाएक इस अहसास से भर गई कि हमारे घर की इस दुर्गति का कारण दादी है. मां के कैंसर की वजह लेट

प्रेग्नेंसी थी और पापा का हार्टअटैक मां का जाना था. ये दोनों तो परिणाम थे. प्रक्रिया तो वर्षों पुराने मानसिक संताप से आरंभ हो चुकी थी. जब लड़का नहीं था और दादी का लगातार मां को नोचते रहना. लड़के की इच्छा को तलवार की तरह मां और पापा के सिर पर हरदम लटकाए रखना. दिन-रात की ये मानसिक प्रताड़ना उनके भीतर बीमारी बनकर कब घुस गई उन्हें पता ही नहीं चला.

एक बार बायो वाली मैम ने कहा भी था सत्तर प्रतिशत बीमारियां हम स्वयं पैदा करते हैं. मानसिक संताप हमें बीमारियों की ओर धकेलते हैं. अनजाने दबाव हमें घातक रोगों के पास ले जाते हैं. दबी कुचली संवेदनाएं असाध्य जानलेवा रोगों को आमंत्रित करती हैं. कोई बीमारी एक दिन में नहीं आती. वर्षों की यात्रा तय करनी पड़ती है हर बीमारी को. बचपन से जवानी और वयस्क होने तक की यात्रा बीमारी की भी होती है.

पापा की अर्थी सज रही थी और रश्मि उलझी थी इन कारणों में. वह पापा का संस्कार करना चाहती थी पर दादी नहीं मानी. सब रस्में लड़के के हाथों से ही हुई. साल भर के लड़के से.

रश्मि इस साल भर में गिने-चुने दिन ही कॉलिज गई. सहेलियां प्रोक्सी करती रहीं. रश्मि बस परीक्षा के समय जाती. थोड़ा-बहुत पढ़कर पासिंग मार्क्स ले आती. टॉपर, डॉक्टर बनने का सपना देखने वाली रश्मि बस पास हो कर रह गई थी.

रश्मि ने दादी को एक दिन बहुत सुनाया था. अपने और अपने भाई-बहनों के जीवन की इस दुर्गति के लिए उन्हें दोषी ठहराया था. फूट-फूटकर रोई थी दादी. पूरी रात बरामदे में चक्कर काटती रही थी.

रश्मि के लिए यह समय बड़ा कठिन था. अब जद्दोजहद मात्र अपने लिए नहीं थी. छोटी बहनों के लिए भी थी. लड़के को तो दादी ने संभालकर रखा हुआ था. शायद उसे देखकर ही वह अपने सामने अपने बेटे-बहू को जाते देखकर भी जी उठी. ये लड़का ही तो सदा से दादी के जीवन का मकसद रहा है.

दादी ने पापा के बिजनेस के लिए एक विश्वासपात्र मुंशी रख लिया था. दादी बूढ़ी थी पर हिसाब-किताब की पक्की थी. बिजनेस की कोई पढ़ाई नहीं की थी, पर व्यावहारिक और व्यापारिक बुद्धि थी दादी के पास.

रश्मि ने किसी तरह बी.एस.सी. कर ली थी. कोई प्रोफेशनल डिग्री लेना चाहती थी. अब वो कुछ करने का सपना तो मर चुका था पर खाली घर बैठे रहना भी कठिन था. पर दादी शादी की रट लगा बैठी थी. रश्मि जब दादी के सामने पड़ जाती दादी शादी की बात दोहरा देती.

जब रश्मि ने दादी को कोई रास्ता नहीं दिया तो मामी को बुलाया गया था. दादी जानती थी कम से कम रश्मि उनकी बात सुनेगी जरूर.

'तेरी दादी का तो पता नहीं. पर तेरे लिए एक लड़का मैंने देखा है. तेरी तरह खुले दिमाग का है. पढ़ाई और पढ़ाई करने वालों की कद्र करता है. इंजीनियर है. उसके साथ रहते हुए तू चाहे तो फिर से सपना देख सकती है कुछ बनने का. बड़ा सैंसिबल है तेरी तरह. तू हां करे तो मैं बात चलाऊं.'

मामी की बात सुनते हुए लगा गरिमा की मम्मी बात कर रही है. वही संपन्नता. वही विचारों की संपन्नता. और उसी संपन्नता के आलोक से आलोकित घर का जर्रा-जर्रा. घर के सामान से लेकर घर की आबोहवा और घर के हर सदस्य का हर कर्म उसी आलोक की किरणें चुनता.

'मामी मैं खुली हवा में सांस लेने के लिए तरस गई हूं.' रुलाई का एक बांध जैसे टूट गया. कितनी देर मामी के गले लगकर रोती रही थी. और मामी उसका सिर सहलाती रही थी.

'लेकिन छोटी दोनों और मन्नी.'

'उनकी चिंता तू न कर. मैं और दादी मिलकर उनका ध्यान रखेंगे. तूने बड़े सैक्रिफाइस कर दिए, अब अपना सोच. मन्नी तो अभी चार साल का है. उसके लिए कब तक इंतजार करेगी.'

एक शादी में मामी ने दिखाया था रश्मि को वह लड़का, स्मार्ट था और उसी संपन्नता और शालीनता से लबरेज. हां करने के बाद एक दिन मामी ने मॉल में दोनों की मुलाकात का इंतजाम कर दिया था.

दोनों की तरफ से हां थी. दादी खुश थी रश्मि ने हां कर दी शादी के लिए. धूमधाम से शादी हुई. दादी ने कोई कमी नहीं छोड़ी. मान, दान, दहेज में कोई कमी न थी.

रश्मि अपने भविष्य को लेकर आश्वस्त थी. उसे आगे की पढ़ाई करनी थी और ससुराल वाले राजी थे.

रश्मि की नाराजगी अभी भी बरकरार थी. वह दादी से बिना विदाई लिए ही अपने घर चली गई और फिर लौटकर नहीं आई. कभी नहीं. छोटी बहनों की शादी में भी नहीं. उनकी शॉपिंग कराकर उन्हें घर के बाहर तक छोड़ देती और वहीं से लौट जाती. दोनों छोटियों की शादियों में हर फंक्शन में अपने घर से आती और फार्म हाउस से सीधी अपने घर. अपने सब उत्तरदायित्व निभाती रही पर दादी को माफ नहीं कर पाई.

पापा के जाने के बाद मन से दादी उतर गई. उतर गई तो उतर गई.

'देख लड़की, ये नखरे करने की आदत लड़कियों को न होनी चाहिए. लड़कियों को तो हर हाल में राजी रहने की आदत डाल लेनी चाहिए. ये लड़कियों के नाराजगियों के पोतड़े कोई न धोता. पंख उतने ही फैलाने चाहिएं लड़कियों को जितने दाना जुटाने के लिए जरूरी हो, आसमान छूने के लिए उड़ने की कोशिश न करनी चाहिए. बड़ा खतरा है उसमें. ये हर वक्त मां से लड़ा मत कर. जागरूकता अच्छी चीज है पर समाज के तौर-तरीके कुछ सोच-समझ के बनाए गए हैं. हर नियम-कानून तोड़ने में कोई समझदारी नहीं है. 'कभी नहीं भूली रश्मि दादी के समय-समय

पर मिलने वाले व्याख्यान.'

पापा के जाने के बाद, तेरहवीं से अगले दिन, घर रिश्तेदारों से खाली हो गया था. बस पांच जन बचे थे. दादी और चार बच्चे.

रश्मि का गुस्सा थमने का नाम नहीं ले रहा था. यह आघात सहन कर पाना उसके लिए आसान नहीं था. एक दिन दादी के कर्म फल के विलाप को सहन नहीं कर पाई और फट पड़ी थी .

'हां, दादी अपने ही कर्मों का फल है. न आप लड़के की रट में मां पापा का जीना मुश्किल करतीं न ये सब होता. ये बीमारियां कोई एक दिन में नहीं लगतीं. बड़ी लंबी जर्नी होती है इनकी. है तो आपके ही कर्मों का फल. भुगतना पड़ा हम सबको. क्या कर दिया समाज ने आपका? इस चार साल के छोटे से बच्चे को मां-बाप, आपका ये समाज, ये तौर-तरीके लौटा सकते हैं.'

दादी रो दी थी. पश्चाताप था उसे. अपनी गलती का अहसास भी. पर रश्मि के मन से वो उतर चुकी थी. उतर चुकी थी तो उतर चुकी थी.

बस इसके बाद रश्मि में और दादी में कभी कोई संवाद कायम नहीं हुआ. दादी ने बहुत कोशिश की पर रश्मि के मन से तो वो उतर चुकी थी न.

दोनों छोटी रश्मि को अड़ियल-सड़ियल कहने लगी थीं पर उसे कोई फरक नहीं पड़ता . वह अभी तक नहीं भूल पाती मां की वो चीखें जो आखिरी हफ्ते में पेन किलर इंजेक्शन के बाद भी दर्द कम नहीं होता था. वो चीखें आज भी इन दीवारों के सीमेंट के साथ चिपकी हुई हैं. चाहे कितनी बार पेंट करा लीं दीवारें पर पेंट के नीचे से भी उन चीखों को सुना जा सकता है. रश्मि जब भी मां के कमरे में जाती वो चीखें सुनती. जब भी मां के बाथरूम में झांकती वहां मां खून से लथपथ बेहोश गिरी पड़ी होती. घर में कोई नहीं था. छोटी और रश्मि घसीटकर मां को उनके बैड तक लाए थे. सब खून-खून हो गया था. बाथरूम, कमरा, बैड, मां, रश्मि, छोटी. सब खून. खून का ऐसा फैलाव कि रश्मि आज तक उससे अछूता नहीं कर पाई अपने आप को. आज भी जिस रात नींद खुल जाए और मां का ख्याल आ जाए तो वह उसी खून की नदी में डूबने लगती है.

बस उस दिन के बाद मां बिस्तर से नहीं उठी. सप्ताह भर कराहती-चीखती रही और फिर एक दिन खामोश हो गई. रश्मि का हाथ पकड़े-पकड़े ही प्राण छोड़े थे. आंखों में क्षमायाचना थी और कोने से ढुलकते आंसू.

और पापा की अस्पताल में आखिरी समय में मां को खोजती आंखें. अस्पताल की छत को चीरकर सारे ब्रह्मांड में मां को खोजती आंखें. कभी रश्मि उन आंखों की अनंत खोज की गलियों में निकलती तो वहां रेगिस्तानों सी सांय-सांय होती और होती सन्नाटे के टर्राने की आवाजें.

दादी चाहती है रश्मि घर आ जाए. कैसे आ जाए रश्मि? दादी के इस घर में उनके तौर-तरीकों और उनकी सामाजिकता उनके अपने अर्थों के साथ पोषित होती है जिनसे उसका शीत युद्ध वर्षों से चल रहा है.

वो कई बार कह चुकी हैं. लड़की, मुझे तुम बहनों से कोई दिक्कत न है. न कभी कोई दिक्कत थी न होगी. बहुत प्यारी हो तुम तीनों. चांदनी की तरह रोशन कर रही हो घर को.

लेकिन आज भी जितनी ममता आंखों में लड़के के लिए लिए घूमती हैं उतनी लड़कियों के लिए नहीं. इस बात को पता नहीं उन्होंने अपने भीतर उतरकर कभी देखने की कोशिश भी की है या नहीं. पता नहीं कभी अपने आप को टटोला भी है या नहीं. पता नहीं खुद को अग्निपरीक्षा से गुजारा भी है या नहीं. लेकिन रश्मि यकीन नहीं कर पाती उन पर. फिर उसने तो पहले भी कहा है न वो दिल से उतर चुकी हैं मतलब उतर चुकी हैं.

रश्मि के बाद एक-एक कर दोनों छोटियों की भी शादी हो गई. मन्नी बड़ा हो गया. उसके हिस्से तीनों बहनों का ढेर प्यार जाता है. भीतर कहीं यह अहसास भी रहता है कि मां-बाप का अभाव उसे कहीं रीता न कर जाए और शायद इसलिए उसकी झोली में ये हीरे-मोती सबसे ज्यादा आते हैं.

आज उसी मन्नी की शादी है. दादी खुश है. बहुत-बहुत खुश. सब रीतें बहुत मन से की हैं दादी ने. सारे शौक पूरे किए. आखिर-आखिरी शादी है घर में.

फेरों के बाद जब घर की ओर बढ़े तो दादी फिर व्यग्र हो उठी. जानती थी रश्मि घर के अंदर नहीं घुसेगी. बस जोड़े को दहलीज पार करा के अपनी गाड़ी में बैठ जाएगी. बाहर से ही अपने घर लौट जाएगी.

घर के बाहर गली में सब खड़े थे. मामी घर में प्रवेश करा रही थी नए जोड़े को. मन्नी और उसकी बहू को. दहलीज पार कराकर जैसे ही रश्मि मुड़ी थी दादी ने मामी की दो महीने की पोती मन्नी की पत्नी की गोद में रख दी थी.

'ये क्या दादी? नई-नवेली दुल्हन की गोद में तो लड़का रखना चाहिए. कुल का दीपक आना चाहिए. लड़की क्यों रख दी बहू की गोद में.'

'ना बेटी. कोई भी आए लड़का या लड़की. कोई फरक ना पड़ता. दोनों कुलदीपक होते हैं.'

रुक गए थे रश्मि के कदम. अपनी पीठ पर वह दादी की आंखों की नमी को महसूस कर रही थी. उनके घर वापसी के बुलावे को सुन पा रही थी. उनकी आवाज का भारीपन अनदेखा नहीं कर पा रही थी.

कुछ सुगबुगाहटें आसपास एक शोर बनकर रश्मि को घेरने लगी थीं. लेकिन वह अभी भी समझ नहीं पा रही थी क्या शीत युद्ध खत्म करने का समय आ गया है?

❐

Chhattisgarh
Film and Visual Art
Society

संस्कृति और कला का समग्र मासिक
कथादेश

कथा–समाख्या–7

कथादेश, छत्तीसगढ़ फिल्म एंड विजुअल आर्ट सोसायटी रायपुर
का संयुक्त आयोजन

कहानी में नवोन्मेष

कथा समाख्या कहानी विधा पर विचार–विमर्श का मंच है। इसका आगामी आयोजन कहानी में नवोन्मेष–2 इधर की कहानी के नये हस्ताक्षरों पर केंद्रित होगा। इस आयोजन में नए कहानीकार की सृजनात्मकता को केंद्र में रखकर आज की कहानियां की गति और स्थिति पर विचार किया जाएगा और इस प्रयत्न में कथा की नई दिशाओं और संभावनाओं पर चर्चा होगी।

यदि आप कहानीकार हैं और आपकी उम्र 40 वर्ष से अधिक नहीं है तो हमें अपनी चुनी हुई कोई एक मौलिक और अप्रकाशित कहानी भेजें।

चयनित कहानी कथादेश में प्रकाशित की जाएगी तथा कथा समाख्या में प्रतिष्ठित कथाकारों एवं आलोचकों द्वारा इन कहानियों पर चर्चा की जाएगी।

चर्चा की रपट और कहानियों पर समीक्षात्मक आलेख भी प्रकाशित किए जाएंगे।

मौलिक और अप्रकाशित कहानी भेजने की अंतिम तिथि 30 जून 2020 है। साथ में अपना परिचय, पता, ई–मेल, पता और नवीनतम चित्र अवश्य भेजें।

अनिवार्यताएं :-

प्रतिभागी कथाकार को कथा समाख्या में उपस्थित रहना अनिवार्य होगा।

अनुपस्थिति की दशा में चयनित कहानी को भी शामिल नहीं किया जाएगा।

पूर्व में कथा समाख्या–5 जिन कथाकारों की कहानी चयनित हुई थी

उन्हे इस कथा समाख्या में शामिल नहीं किया जाएगा।

कहानी भेजने की अंतिम तिथि 30 जून 2020 है।

कथा समाख्या–7 अक्टूबर के प्रथम सप्ताह में 2 से 4 अक्टूबर को नागपुर में होना प्रस्तावित है।

कथा समाख्या–7 के लिए भेजी गई कहानी के चयन की सूचना जारी होने के
पूर्व तक भेजी गई कहानी अन्यत्र प्रकाशनार्थ नहीं भेजी जाएगी।

कहानी भेजने का पताः
ईमेल : kathasamkhya@gmail.com
डाक : कथा समाख्या द्वारा कथादेश
एल–57 बी, दिलशाद गार्डन, दिल्ली– 110095 मो. 9868382783

संपर्क
हरिनारायण : 7701938525
आनंद हर्षुल : 9425208074
जयप्रकाश : 9981064205
सुभाष मिश्र : 9425203900

जिनसे अंधेरी रातों में जल जाते थे दीये

पल्लव

कथेतर

हिंदी में कवियों-कथाकारों पर केंद्रित पुस्तकों का चलन तो है किंतु ये अधिकांशतः आलोचना या अभिनंदन के दायरे में होती हैं. एक लेखक का संसार कैसा है, किनसे बनता है और उस संसार ने लेखक की निर्मिति में कैसा योगदान किया है यह जानने का उपक्रम कभी कभार ही हो पाता है. जगहों पर लिखे गए संस्मरणों पर बात करने से पहले वे संस्मरण भी देख लेने चाहिए जो व्यक्तियों पर केंद्रित हैं. इनमें दो तरह की प्रविधियां हैं. पहला किसी एक व्यक्ति पर अनेक लोगों के द्वारा लिखे गए संस्मरणों का संकलन और दूसरा किसी एक व्यक्ति पर एक ही व्यक्ति का पुस्तकाकार लेखन. पिछली किश्त में कवि वीरेन डंगवाल पर पंकज चतुर्वेदी की पुस्तक इस कोटि की अनूठी किताब थी लेकिन भूलना नहीं चाहिए कि 2019 में ही कथाकार मनोहर श्याम जोशी पर प्रभात रंजन की एक पुस्तक इसी श्रेणी की है.

1

शताधिक लेखकों के संस्मरणों से तैयार दो खंडों की ग्रंथाकार पुस्तक 'अपने अपने अज्ञेय' (2011) सचमुच कवि-नायक अज्ञेय के व्यक्तित्व का महाकाव्य है. अज्ञेय के प्रशंसकों, मित्रों और आलोचकों के संस्मरणों से अज्ञेय की जिस छवि का निर्माण सम्पादक ओम थानवी ने किया है वह आज के सांस्कृतिक-सामाजिक परिदृश्य में विरल उदाहरण हैं. अज्ञेय के तेजस्वी, स्वाभिमानी और पराक्रमी व्यक्तित्व की अनेक झांकियां इसमें मिलती हैं तो लेखक और मनुष्य अज्ञेय की कमजोरियों को छिपाने की कैसी भी चेष्टा सम्पादक ने नहीं की. इस नाते यह पुस्तक अनुकरणीय उदाहरण भी है कि हमें अपने लेखकों को किस तरह याद करना चाहिए. पुस्तक से दो प्रसंग उद्धृत करना आवश्यक लग रहा है. पहला है कवि नरेश मेहता की कलम से अज्ञेय के व्यक्तित्व का जादुई वर्णन. वात्स्यायन में सुदर्शन व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य था परंतु साधारण अर्थ में नहीं. उनकी देह-यष्टि में ग्रीक मूर्तियों का-सा सौंदर्य, लालित्य या लयात्मकता ही नहीं थी बल्कि आचरण और व्यवहार में भी वे निष्णात् तराशी धवल प्रतिमा की प्रतीति कराते थे. एक ऐसा सुषमात्व था जिसे विरल ही कहा जा सकता था. पुरुष-सौंदर्य का यह मूर्ति-तत्त्व हमारे भारतीय उपमहाद्वीप में केवल कद्दावर पठानों के गांधारपन में ही सहज देखा-पाया जा सकता है. पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी के कथनानुसार पाणिनी पठान थे, आर्य थे इसलिये अनुमान किया जा सकता है कि उस अप्रतिम वैयाकरणी मेधा में भी माइकेल एंजिलों की अनिंद्य प्रतिमा वाली अपूर्वता संभव है, वही हो. पाणिनी के बाद संभवतः सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' को देख-सुनकर आर्य-सौष्ठव की उस पुरुष-माधवता का आभास मिलता है, जो कभी सम्राट समुद्रगुप्त में रही होगी या धूमकेतु खारवैल में. हम चाहें तो इस संदर्भ में सोफोक्लीज का भी स्मरण कर सकते हैं, जो न केवल अपनी ट्रैजेडियों के कारण ही प्रसिद्ध रहा बल्कि जीवन भर स्वयं सौंदर्य का मानक-व्यक्तित्व भी माना जाता रहा. निश्चित ही वात्स्यायन हिंदी साहित्य की देशगतता पर सौष्ठव की विषुवत-रेखा हैं तो कालगतता में सर्जनात्मक ऊर्ध्व -शिखर.'

अशोक वाजपेयी के अज्ञेय से खट्टे-मीठे संबंध रहे हैं. पुस्तक में वाजपेयी के संस्मरण में उन संबंधों का चित्र आया है. वाजपेयी जब भोपाल के भारत भवन में थे और अपनी गतिविधियों से देश भर में चर्चित भी. लेकिन अशोक जी ने लिखा, 'भारत-भवन' जैसी बड़ी पहल से अज्ञेय का कोई संबंध नहीं था जबकि उसके महत्त्व और ऐतिहासिक जरूरत को समझने और उत्साहित करने की सबसे अधिक क्षमता और समझ उन्हीं के पास थी.' आगे वे फिर लिखते हैं, 'मेरी असफलता यह थी कि मैं उन्हें या उन जैसे कुछ औरों को यह नहीं समझा पा रहा था कि मध्य प्रदेश में सांस्कृतिक विकास का एक बिल्कुल नया मॉडल विकसित हो रहा था जिसमें सरकार के धन और साधन थे, पर हस्तक्षेप बिल्कुल नहीं था.' वहीं 'सागर मुद्रा' के प्रकाशन पर परमानन्द श्रीवास्तव ने अपनी समीक्षा में उन्हें 'चुका हुआ कवि' लिख दिया था. बाद में कभी भेंट होने पर परमानन्द श्रीवास्तव ने पूछा कि 'इन दिनों आप क्या लिख रहे है?' तो अज्ञेय का उत्तर था, 'इधर चुक गया हूं.' संस्मरण विधा की यही विशेषता राजेंद्र यादव ने रेखांकित की थी–'वे देवता नहीं हैं.' उर्फ वे भी मनुष्य ही हैं. इस पुस्तक में अवसर और अवकाश था कि नामवर सिंह अपने प्रतिद्वंद्वी(?) अज्ञेय के संबंध में कुछ लिखते. उनका संस्मरण महज औपचारिकता की तरह आया है जिसके लिए संपादक को दोषी नहीं माना जा सकता.

2

अपनी तरह के जिद्दी संपादक और लेखक कामेश्वर प्रसाद सिंह ने कवि केदारनाथ सिंह पर ऐसी ही अनूठी किताब तैयार की है. 'केदारनाथ सिंह : चकिया से दिल्ली' (2016) शीर्षक से आई इस किताब में दो दर्जन से अधिक संस्मरण हैं जिनमें कवि का भीतरी संसार खुलता है. इस संसार को बनाने वाले उनके मित्र, पाठक, विद्यार्थी और परिवार-जन पुस्तक में संस्मरणकार के रूप में शामिल हैं. यही नहीं आधा दर्जन वे कविताएं भी पुस्तक में संकलित हैं जिनके केंद्र में कवि केदारनाथ सिंह हैं. इन संस्मरणों का उद्देश्य यद्यपि कवि के काव्य विवेचन या मूल्यांकन नहीं है तब भी प्रकारांतर यहां अनेक टिप्पणियां ऐसी मिलती हैं जो कविताओं को बेहतर ढंग से जानने-समझने की सुविधा देती हैं.

भूमिका में कामेश्वर प्रसाद सिंह लिखते हैं—'कवि के रूप में केदारनाथ सिंह इस अर्थ में विशिष्ट हैं कि उनकी कविता और उनका व्यक्तित्व बिलकुल अभिन्न है. इस दुर्लभ अभिन्नता के वे विरल वारिस हैं.' भारतीय लोक के मर्म की गहरी संवदेना केदारनाथ सिंह के काव्य में मिलती है इस संवेदना का निर्माण जिन तत्वों से हुआ है वे मूलतः देशज हैं. कवि और यायावर रामजी तिवारी ने किताब में केदार जी के गांव चकिया की यात्रा की है और वहां केदारजी के मित्रों-समकालीनों से बातें की हैं. इसे पढ़कर लगता है जैसे कवि के पात्रों या कवि रचित संसार के लोगों से भेंट कर रहे हों. वे लिखते हैं—'केदार जी की जिन कविताओं पर दुनिया मुग्ध रहती है, वे कविताएं उनके गांव और जमीन से जुड़कर ही आकार लेती हैं. जिस बिंब विधान पर आज दुनिया इतराती है और जिसको स्थापित करने का श्रेय केदार जी को ही जाता है, वे सारे बिंब उसी गांव जमीन होते हैं. उनके अर्थ चाहे कितने भी वैश्विक क्यों न हों, उनका कथ्य चाहे कितना भी भूमंडलीकृत क्यों न हो, पैदा तो उन्हें उनके गांव चकिया से ही होना होता है.' संपादक ऐसा संस्मरण इस किताब के लिए लिखवा सका है यह उसकी दृष्टि और उपलब्धि है. यशवंत कुमार सिंह ने केदार जी के चकिया के दिनों को खूब याद किया है तो उनके भरे पूरे परिवार और घर का चित्र इस संस्मरण को पठनीय बनाता है. यशवंत लिखते हैं—'केदार जी का शरीर शहर का है तो आत्मा गांव की. व्यक्तित्व की यह समग्रता ही उन्हें लेखन की दुनिया में दूसरों से विशिष्ट बनाती है. पूरी प्रतिबद्धता, मानवीय दृष्टिकोण तथा सर्वथा अलग तरह की ग्रामीण संवेदना के साथ लेखन इसके बिना संभव ही नहीं है.'

सुपरिचित कवि (दिवंगत) उमेश चौहान ने केदारनाथ सिंह के साथ लखनऊ की एक यात्रा की थी. इस यात्रा के बहाने लिखा गया संस्मरण कवि के व्यक्तित्व के अनेक पहलुओं को देखने-समझने का अवसर देता है. कैसे जीवन के आसपास फैले छोटे-छोटे प्रसंगों को कवि विराट के साथ जोड़कर सृष्टि करता है. यहां केदार जी का लखनऊ जाना, मित्रों के मध्य महफिल और लोकार्पण की बातें, रात्रि विश्राम के प्रसंग उमेश चौहान अंकित करते जाते हैं जिनसे पाठक के समक्ष जैसे कवि का भीतरी संसार भी खुलता गया है.

आलोचक नामवर सिंह के पुत्र और केदार जी के दामाद विजय प्रकाश सिंह का संस्मरण 'जैसा मैंने उन्हें देखा जाना' केदारजी के संसार का पारिवारिक दृश्य उपस्थित करता है जहां उपलब्धियों और कीर्ति से निरपेक्ष घर के एक वरिष्ठ सदस्य की छवियां हैं. इसी क्रम में केदार जी की पुत्री रचना सिंह का संस्मरण है. रचना जी ने एक प्रसंग लिखा है—'वे एक भीरू पिता हैं. जब हम कहीं बाहर होते हैं या बीमार होते हैं तो हमारी चिंता में घुलते रहते हैं. मेरी दीदी जब कभी बाहर जाती थी और उसे लौटने में देर हो जाया करती थी, तो वे परेशान होकर कहते थे कि आने दो उसे...मैं डांटता हूं...समय से आ जाना चाहिए...आदि. लेकिन जैसे ही दीदी वापस आती, एक पिता का सा चेहरा बनाकर कहते—'देर क्यों हो गई बेटा?' और हम सब हंस पड़ते. यह पिता का वह चेहरा है जो हम सबका है और हम सब जैसा है. अकृत्रिम और निश्छल. वहीं इस चेहरे हो एक अन्य निगाह से देखना कम दिलचस्प नहीं—'बाबूजी की बातें अनुभव का खजाना होती हैं और सुनाने का ढंग बेहद दिलचस्प. उनके मुंह से कई किस्से हम सैकड़ों बार सुन चुके हैं, लेकिन हर बार वे नए से लगते हैं. जे.एन.यू. के घर में जाड़े की रातों में बाबूजी के तलवे में कड़वा तेल लगाते हुए उनसे बातें करना मेरी सबसे अनमोल स्मृतियों में से एक है. मुझे उनको तेल लगाना हमेशा अच्छा लगता है. इस दौरान मैं, ईया और बाबूजी इत्मीनान से घर-बार और संसार की बातें करते रहते.' इस अनौपचारिक नितांत पारिवारिक चित्र में कवि की निजी दुनिया के दर्शन होते हैं जहां परिवार की प्रीतिकर छाया उन्हें सक्रिय और अधिक संवेदनशील बना रही है.

केदारनाथ सिंह वर्षों जेएनयू में अध्यापक रहे और उनके पढ़ाए विद्यार्थियों की संख्या खासी है. इन शिष्यों में से कुछ राजेश मल्ल, पंकज पराशर, प्रमोद कुमार तिवारी, करुणा गुप्ता, अंजुमन आरा, निरंजन सहाय ने यहां अपने गुरु को कृतज्ञता और प्रीतिपूर्वक स्मरण किया है. राजेश मल्ल का संस्मरण अपनी निर्मिति में बेहद जीवंत और प्रभावशाली बन पड़ा है. वे यहां लिखते हैं—'मैं सिर्फ निवेदन करना चाहता हूं कि दुखों को तमगों की तरह पहनकर टहलना केदारनाथ सिंह की फितरत नहीं है. कविताओं से होकर एक पगडंडी जाती तो है मन तक लेकिन वह राह भी मौन से घिरी हुई है.' वहीं एक अन्य शिष्य प्रमोद कुमार तिवारी ने लक्षित किया है—'अस्सी वर्ष के हो जाने के बावजूद गुरुवर में किसी शिशु जैसी प्रश्नाकुलता और वैसी ही मासूमियत मैंने कई बार देखी है.' दाम्पत्य जीवन के पूर्वार्ध में ही

केदारजी को पत्नी वियोग सहना पड़ा और जीवन संघर्ष के अनेक दारुण प्रसंग उनके साथ भी जुड़े रहे हैं. करुणा गुप्ता ने केदार जी के जेएनयू आवास 16 दक्षिणापुरम का मनोरम चित्रण किया है जिसमें केदार जी की मां, पिता और उनकी संतानों के बीच जेएनयू के उनके शोध छात्र और शिष्य हैं. लैंडलाइन फोन के आने पर पड़ोस से पुकारना हो या केदार जी की मां का भोजपुरी में बेटे के शिष्यों की चिंता–सब मिलकर एक निष्कपट और मोहक वातावरण की स्मृति बनाते हैं.

साहित्य संसार के लोगों में विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, भारत यायावर, सदानंद शाही और तरुण कुमार ने केदार जी पर संस्मरण लिखे हैं तो विश्वनाथ त्रिपाठी, जीवन सिंह, अनिल त्रिपाठी, गोबिंद प्रसाद और सुंदर चंद ठाकुर की कविताएं कवि के आत्मीय संसार को पाठकों के समक्ष खोलती हैं. तरुण कुमार का संस्मरण इन सबमें अनूठा है क्योंकि वे अपने गांव में जाकर ग्रामीणों के बीच कवि केदारनाथ सिंह की कविताओं का पाठ करने का प्रसंग सुनाते हैं. यह सचमुच दुर्लभ है कि साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियों से एकदम नए और सामान्य तौर पर साहित्य के पाठक न माने जाने वाले श्रोताओं का परिचय करवाया जाए. उन्होंने लिखा है–'जीवन में जो कुछ पावन, आत्मीय, संगीतमय चमत्कारी रहस्यमय और सौहार्द्रपूर्ण है, उसके निरंतर छीजते जाने पर एक गहन आध्यात्मिक पीड़ा से जोड़ने वाली कविताएं हैं ये.' भारत यायावर ने बनारस में नामवर सिंह के सान्निध्य में रहे केदारनाथ सिंह के व्यक्तित्व का चित्र उकेरा है जो शालीन और गंभीर कवि के जिंदादिल और प्रसन्नचित्त होने की गवाही देता है. कवि-आलोचक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का संस्मरण एक साथ घर और बाहर के केदार जी का चित्र देता है. वे लिखते हैं–'केदार जी को जानने वाले स्वीकार करेंगे कि वे एक सद्‌गृहस्थ, मृदुव्यवहारी और सफल लेखक हैं. इसका सबसे बड़ा रहस्य है कि वे काजल की कोठरी में बहुत सावधान होकर चलते हैं और एक चौकन्ना भारतीय निरक्षर मन उनके भीतर सदा जागता रहता है. वे दूसरों के महत्त्व और अहम को आहत नहीं करते. उनमें एक जरूरी ईगो भी है, विनम्रता भी, आत्मचिंता के साथ परचिंता भी.' बांग्लाभाषी विदुषी सोमा बंद्योपाध्याय ने केदारनाथ सिंह के काव्य संसार से अपने परिचय का वृत्तांत लिखा है तो महेश आलोक और महेश अश्क के आलेख भी ताजगी भरे हैं. पुस्तक के प्रारम्भ में अभिज्ञात ने विस्तार से केदारनाथ सिंह का औपचारिक परिचय दिया है जिसमें उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि, जीवन रेखा, कर्मक्षेत्र, रचनात्मक पृष्ठभूमि के संबंध में उपयोगी सूचनाएं हैं. यह ध्यान देने की बात है कि एक लेखक के रचना संसार को समझने और उसकी सही सही पहचान करने में उसके व्यक्तित्व को ठीक से जाना-समझना भी बड़ा मददगार होता है. हिंदी में इस तरह की किताबों की बड़ी जरूरत है जिनसे न केवल विद्यार्थी और शोधार्थी लाभान्वित हों अपितु साहित्य प्रेमी भी अपने पसंद के लेखक को बेहतर ढंग से जान समझ सकें. कामेश्वर प्रसाद सिंह ने कवि केदारनाथ सिंह के पाठकों और हिंदी काव्य प्रेमियों के लिए यह रास्ता बनाया है. गोबिंद प्रसाद की यहां आई काव्य पंक्तियां सचमुच न भूलने योग्य हैं–'दो-चार कण बुद्ध की हंसी/ तुम्हें तराशती रही/किसी महाकाव्य में न अंटने वाली अनन्य साधारणता.'

असमय चले गए अनूठे कथाकार रघुनन्दन त्रिवेदी के प्रशंसक समकालीन लेखकों, मित्रों और परिवारजनों के द्वारा उन पर लिखे गए संस्मरणों की किताब (2014) जाने-माने कथाकार और डायरी लेखक सत्यनारायण ने तैयार की. इस किताब में रघु जी पर संस्मरण और श्रद्धांजलियां हैं जिनमें उदय प्रकाश, स्वयं प्रकाश, हबीब कैफी, हसन जमाल और खुद सत्यनारायण सहित लगभग दो दर्जन लोगों के संस्मरण हैं. उदय प्रकाश के संस्मरण की पहली पंक्ति है–'जब तक वे थे, उनका होना कोई खबर नहीं था. और 10 जुलाई 2004 को जब वे नहीं रहे, तब भी उनका न होना कोई बड़ी खबर नहीं था.' इसे हिंदी लेखक की नियति कहकर आगे बढ़ जाना चाहिए या सचमुच यहां ठहर कर विचार करना चाहिए. यह दुखद ही है कि संस्कृति की सबसे ज्यादा परवाह करने वाले कलमकारों के लिए समाज में कोई बड़ी जगह नहीं है. यह पुस्तक सत्यनारायण के निजी प्रयासों से प्रकाशित हुई है, ऐसा माना जा सकता है क्योंकि पुस्तक में बिना किसी संपादकीय या भूमिका के इकतीस रचनाएं हैं जो रघु जी से संबंधित हैं. ओमा शर्मा का संस्मरण पढ़ने पर मालूम होता है कि यह पत्राचार है जो उनमें और रघुनन्दन त्रिवेदी में हुआ था. सबसे दिलचस्प तो पुस्तक का आवरण है जिस पर सत्यनारायण के संस्मरण से लिया गया शीर्षक 'सुन रहे हो रघुजी' किताब के शीर्षक के रूप में है और नीचे लेखक के नाम वाली जगह केवल सत्यनारायण लिखा है. भीतर जाने पर ही पुस्तक के संपादित होने की सूचना मिलती है. रघुनन्दन त्रिवेदी की प्रसिद्ध कहानी का शीर्षक याद आता है–यह ट्रेजेडी क्यों हुई.

'यारों के यार : दुष्यंत कुमार' विजय बहादुर सिंह द्वारा संपादित किताब है जो 2008 में आई थी. इस किताब में धर्मवीर भारती, शरद जोशी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, शानी, कांतिकुमार जैन, रामनारायण उपाध्याय और रवीन्द्रनाथ त्यागी के साथ दुष्यंत के परिवार के लोगों के संस्मरण भी हैं. कांतिकुमार जैन और शरद जोशी के साथ धर्मवीर भारती के संस्मरण दुष्यंत कुमार की स्मृतियों को जीवंत करने वाले हैं. इसी पुस्तक में मूल्यांकन खंड में उनके साहित्य पर कुछ समीक्षाएं हैं. याद करें तो कमलेश्वर

के प्रयासों से 'मेरा हमदम मेरा दोस्त' शृंखला में भी इस ढंग की किताबें आई थीं और उनके निधन के बाद उन पर भी अनेक पुस्तकें निकलीं. इस तरह की पुस्तकों की हिंदी में कमी नहीं जो लोगों ने अपने अपने प्रिय लेखकों या साहित्य नायकों पर तैयार कीं. सुमन केशरी द्वारा संपादित 'जे एन यू में नामवर सिंह' (2009), भारत भारद्वाज और साधना अग्रवाल की 'हमारे युग का खलनायक : राजेंद्र यादव' (2015), मोहनकिशोर दीवान द्वारा संपादित 'नेपथ्य नायक : लक्ष्मीचन्द्र जैन' (2000), 'सीताराम सेकसरिया : विविध आयाम' (2017) को इस प्रसंग में याद किया जाना चाहिए.

3

हिंदी के विलक्षण उपन्यासकार मनोहर श्याम जोशी पर प्रभात रंजन ने एक छोटी सी पुस्तक लिखी है 'पालतू बोहेमियन', जिसे जोशी की जीवनी तो नहीं लेकिन प्रभात रंजन के साथ रहे मित्रता-संबंध का दस्तावेज कहा जा सकता है. इस पुस्तक को ठीक-ठीक जीवनी या संस्मरण नहीं कह सकते क्योंकि विधाओं की आवाजाही के कारण यह कभी प्रभात रंजन की आत्मकथा भी लगती है तो कभी हिंदी साहित्य की दिल्ली डायरी भी. प्रभात रंजन ने पीएचडी के लिए जो विषय चुना था वह मनोहर श्याम जोशी के उपन्यासों पर था तो स्वाभाविक ही था कि उन्हें जोशी जी से मिलना पड़ता. लेकिन जोशी जी से उनकी पहली मुलाकात उदय प्रकाश के सौजन्य से हुई जिन्होंने प्रभात के हाथ एक किताब जोशी जी के लिए भिजवाई थी. पहली मुलाकात में प्रभात रंजन ने जोशी जी को कैसे देखा—'उनके घर के पास वाले स्टाप पर बस से उतरकर जब मैं उनके घर पहुंचा तो वे मेरा इंतजार कर रहे थे. मुझे याद है शाम के पांच-सवा पांच बजे थे. उनकी शाम की चाय का समय यही होता. उस समय वे बहुत अच्छे मूड में होते, खूब कहानियां सुनाते. चाय फीकी पीते थे और गुड़ का टुकड़ा अलग से रखते. कुतर-कुतरकर गुड़ खाते और चाय का सिप लेते हुए वे इतनी बातें करते कि सामने वाला इस भ्रम में आ जाता कि वे उसे अपना अंतरंग समझने लगे हैं.'

धीरे-धीरे उनकी मुलाकातें बढ़ने लगीं और प्रभात रंजन अपना भविष्य हिंदी के सबसे सफल टीवी सीरियल लेखक जोशी जी के सान्निध्य में खोजने लगे. उन्हें एक सीरियल के लिए शोध करने का जिम्मा भी मिला और उस सीरियल को लिखने में वे जोशी जी के सहायक भी हुए लेकिन अनेकशः दुर्भाग्यशाली डिब्बाबंद हिंदी फिल्मों की तरह एक दिन वह सीरियल भी बनने से पहले ही बंद हो गया. लेकिन इस प्रक्रिया में टीवी या फिल्मों के लिए लिखने के संबंध में जोशी जी के दिए अनेक सूत्रों को प्रभात रंजन दर्ज कर लेते हैं—'देखो, एक चीज शुरू में ही सीख लो. यह जो इंडस्ट्री है इसमें ग्लैमर बहुत होता है, पैसा बहुत लगता है. जब कोई निर्माता किसी परियोजना को बार-बार बड़ा बताए तो सबसे पहले यह बात समझनी चाहिए कि वह उस परियोजना में बहुत पैसा लगाना चाहता है. अब देखो, वह तुम्हारे शोध निर्देशक की तरह तो होता नहीं है कि वह तुम्हारे लिखे को पढ़े और बता दे कि तुमने काम किस स्तर का किया है. न भी बताये तो समझ जाए. इस इंडस्ट्री में निर्माता तभी खुश होता है जब उसे काम होता हुआ दिखे. अब यह काम अगर तुम सिर्फ पुस्तकालय में बैठकर करोगे तो निर्माता के मन में यह धारणा बन जाएगी कि तुम अपने काम में अच्छे नहीं हो. बस वह दूसरे शोधकर्ता की तलाश शुरू कर देगा.' आगे एक जगह और वे लिखते हैं—'कहानी डेवलप करने के कुछ नुस्खे भी उन्होंने दिए. सबसे पहला यह कि कहानी को हमेशा वर्तमान काल में सोचना चाहिए. फिल्म और टीवी के लिए लिखते हुए यह जरूरी है कि आप जो भी लिखें पहले उसे मन के परदे पर घटित होता हुआ महसूस करें. दूसरा, सूत्र यह था यह कहानी एक ऐसे धारावाहिक के लिए लिखी जाने वाली है जो 100 से अधिक एपिसोड तक चलेगी. इसलिए कहानी में हमेशा आगे के लिए सूत्र छोड़ते जाना. फिर, कहानी को संपूर्णता में मत सोचना, हमेशा एपिसोड रूप में, क्रमिक रूप में आगे की तरफ बढ़ते हुए सोचना. और अंत में, सबसे जरूरी बात यह कि पहला एपिसोड इतना धमाकेदार, इतना नाटकीय मत लिखना, कहानी को इतनी ऊंचाई पर मत ले जाना कि दर्शक हर एपिसोड में उस ऊंचाई की तलाश करें. हर एपिसोड में कहानी को उतना नाटकीय बनाना संभव नहीं हो सकता. इसलिए दर्शकों को सीरियल से निराशा हो सकती है. अपने लेखन की जितनी सीमा हो कहानी को उसी के मुताबिक नाटकीय बनाना बेहतर और सुरक्षित तरीका है.'

प्रभात रंजन जोशी जी के व्यक्तित्व से प्रभावित थे किंतु इस किताब को लिखते हुए वे कहीं भी इस प्रभाव से दबते नहीं. वे अनेक स्थलों पर जोशी जी के व्यक्तित्व के कमजोर पक्षों को भी देखते हैं और आवश्यक होने पर आलोचना भी करते हैं. देखिए—'बाद में मैंने महसूस किया कि यह उनके व्यक्तित्व की विशेषता थी—आपसे ऐसे बात करने लगते जैसे कि आपके बहुत पुराने दोस्त हों और अचानक कुछ ऐसा कह देते कि वे आपको अपने से बहुत दूर लगने लगते—एक महान शख्सियत की तरह. एक बड़े लेखक जैसा गुरु-गंभीर भाव उनमें नहीं था. उनकी छवि, उनके काम की वजह से बहुत कम लोग उनसे मिल पाते थे, उनके अपने एकांत में प्रवेश कर पाते थे लेकिन जो कर पाते थे वे उनकी बेतकल्लुफी के कायल हो जाते थे. हिंदी में आम तौर पर उसी लेखक को बड़ा माना जाता है जो बहुत गुरु-गंभीर

दिखता हो, लिखता भले न हो.'

किताब को पढ़ते हुए जोशी जी की रचना प्रक्रिया और उनकी अनेक पुस्तकों के संबंध में रोचक जानकारियां मिलती हैं. जैसे 'हमजाद' उपन्यास मूलतः एक कहानी के रूप में लिखा गया था और अंततः उपन्यास की तरह छपा. प्रभात जी ने इस उपन्यास पर पहली समीक्षा लिखी थी. इस समीक्षा के छपने पर प्रभात रंजन की प्रतिक्रिया देखिए जिसमें वे खुद पर व्यंग्य कर रहे हैं–'उत्तर आधुनिकता और मनोहर श्याम जोशी के उपन्यास विषय पर शोध करना अभी ठीक से शुरू ही नहीं किया और मैंने खुद को उत्तर आधुनिकता और मनोहर श्याम जोशी दोनों का विशेषज्ञ साबित कर दिया था.' प्रभात रंजन के लिए सीरियल राइटिंग जैसे काम खोजने से लगाकर बहुवचन और जनसत्ता की पत्रकारिता में स्थान के लिए जोशी जी की सदिच्छाएं और प्रयास उनके बड़े मनुष्य होने के उदाहरण हैं. उत्साही फिल्म निर्देशक से पैसा न लेने और मनमोहन देसाई को पैसा लौटा देने जैसे दुर्लभ प्रसंग भी उनकी उदात्तता के प्रमाण हैं. इस आशय के एक प्रसंग को और देखना रोचक है–'एक बार उनके सामने मेरे मुंह से निकल गया कि नामवर जी तो अब लिखना ही भूल गए हैं. सुनते ही जोशी जी बड़े गुस्से में आ गए और उन्होंने मुझे एक तरह से चेताते हुए कहा कि नामवर जी के बारे में कुछ भी बोलने से पहले सोच लेना. आज भी वे रात में एक किताब पढ़कर सोते हैं. सात जनम लोगे तब भी उनके जैसा पढ़ पाओगे या नहीं बताना मुश्किल है. बल्कि इससे भी आगे बढ़ते हुए उन्होंने मुझे कहा कि किसी भी बड़े लेखक की आलोचना करने से अधिक उनसे कुछ सीखने का प्रयास करना चाहिए. नामवर जी के बारे में उनकी यह राय तब थी जब नामवर जी उनकी रचनाओं पर न के बराबर बोलते थे.'

भाषा के संबंध में किसी लेखक को कितना सावधान होना चाहिए इसका एक सुंदर प्रसंग किताब में आया है–'उन्होंने बड़ा मौलिक सवाल उस दिन मुझसे किया. तुम हिंदी पट्टी वाले अपनी अंग्रेजी ठीक करने के लिए तो डिक्शनरी देखते हो लेकिन कभी यह नहीं सोचते कि हिंदी भाषा को भी ठीक करने के लिए कोश देखना चाहिए. दिलचस्प बात यह है कि जोशी जी ने अपने जीवन काल में एक भी उपन्यास या रचनात्मक साहित्य ऐसा नहीं लिखा जो तथाकथित शुद्ध खड़ी बोली हिंदी में हो. लेकिन *आउटलुक, दैनिक हिंदुस्तान* में उनके जो स्तंभ प्रकाशित होते थे और उनमें अगर एक शब्द भी गलत छप जाता था तो वे संपादक से जरूर लड़ते थे.' एक जगह प्रभात रंजन ने लिखा है–'असल में जोशी जी स्वयं अर्जेंटीनी लेखक बोर्खेस की तरह ऐसा साहित्य लिखना चाहते थे जिसमें गहरा पांडित्य भी हो रोचकता भी.' कहना न होगा कि मनोहर श्याम जोशी का समूचा लेखन इस कोशिश की सुंदर कवायद ही है क्योंकि एक ईमानदार लेखन ही सफलता के शिखर पर पहुंचकर ही ऐसा आत्मस्वीकार कर सकता है, 'मेरे सभी उपन्यास अलग-अलग शैली के लिए जाने गए लेकिन अब मैं कोई नया लहजा नहीं बना पा रहा हूं. मुझे लगता है कि एक लेखक को सबसे तकलीफ इस बात से होती होगी जब वह अपने आपको दोहराने लगता है. आखिर हिंदी के लेखक को पाठकों के प्यार के अलावा मिलता ही क्या है जो वह बेस्टसेलर लेखकों की तरह खुद को दोहराता रहे. उपलब्धियों का तो पता नहीं लेकिन मुझे लेखक के रूप में अपने मानकों पर खरा न उतर पाने का बहुत अफसोस है. '

पुस्तक इस तरह से लिखी गई है कि आप पढ़ते जाएं. किस्सागो मनोहर श्याम जोशी पर लिखने वाला किस्सों से बच भी नहीं सकता था. एक जगह प्रभात रंजन पाठकों से क्षमा मांगते हुए लिख रहे हैं–'माफ कीजिएगा, विषय पर लिखते हुए बार-बार विषयांतर हो जा रहा है. क्या करूं, मनोहर श्याम जोशी ने अनेक विषयों पर अनेक विधाओं में, अनेक शैलियों में, भाषा की अनेक भंगिमाओं में इतना कुछ लिखा है कि उनके ऊपर सीधे-सीधे कुछ लिखा ही नहीं जा सकता है. जो सीधे- सीधे लिखा जाए वह साहित्य नहीं होता, वह किसी मुदर्रिस के नोट्स की तरह होता है–एक बार जोशी जी ने कहा था.'असल बात तो यही है कि विषयांतरों से व्यक्तित्व के कोनों-अंतरों में ठीक तरह से जाने की गुंजाइश बनती है वरना भारत सरकार के सूचना प्रसारण मंत्रालय के प्रकाशन विभाग ने दर्जनों जीवनियां छापकर हिंदी की इस दुर्लभ विधा में महान योगदान किया ही था.

अंत में यह कहना सर्वथा उचित होगा कि एक प्रिय लेखक के आत्मीय संसार में प्रवेश दिलवाने के साथ-साथ यह किताब प्रभात रंजन को समर्थ संस्मरणकार के रूप में स्थापित भी करती है. हिंदी के संसार को खोलने और उसे अधिक लोकतांत्रिक बनाने के लिए ऐसी किताबें बार-बार लिखी जानी चाहिएं.

4

इस आलेख का शीर्षक शीन काफ निजाम के जिस शेर से लिया है उसे पूरा कर दूं तो बात खत्म हो–कितने हसीन लोग थे क्या जाने क्या हुए. साहित्य- संस्कृति की दुनिया के वे हसीन लोग, जिन्होंने साहित्य के मार्फत दुनिया को सुंदर बनाने में अपनी जिंदगी खपा दी, उन्हें याद करना और उनकी यादें बनाए रखना क्या हम साहित्य रसिकों का काम नहीं है? संस्मरण विधा साहित्यकारों-लोगों में पाठकों की गहरी दिलचस्पी पैदा करती रहे और पाठक साहित्य के रास्ते जीवन को बेहतर बनाने का छोटा-सा सपना बचाए रखें–इन हसीनों की बस इतनी सी ख्वाहिश रही है.

❐

संपर्क : pallavkidak@gmail.com

कहानी

ये प्यार वो प्यार और तन्हाइयां

•

शिल्पा शर्मा

रोज की तरह उस दिन भी ले ली थी 8.40 की फास्ट लोकल. कितने सालों से तो लेता आ रहा हूं. वही एक से ढर्रे पर चलती है जिंदगी यहां. 8.40 की लोकल लो 9.26 तक छत्रपति शिवाजी महाराज टर्मिनस पहुंचो. दस मिनट का वॉक करो और ऑफिस पहुंचो.

ऑफिस...अब कहां? यह सोचते-सोचते हाथ चेहरे पर गया. आज जल्दबाजी में दाढ़ी भी नहीं बनाई. मुलुंड में ये जोर का रेला आया...हमेशा पैसेज पर खड़ा रहने वाला मैं धक्के के साथ एकदम भीतर पहुंच गया. इतनी भीड़, इतनी धक्कम-पेल कि सांस भी मुश्किल से ले पा रहा था. हार कर जगह बनाते-बनाते सीटों की तरफ जाना ही पड़ा. तीस सालों से चल रहा हूं इस ट्रैक पर. जवानी के दिनों में मजाल तो है कि कोई अंदर घुसा देता...पर बुढ़ापा थोड़ा अशक्त बना देता है और खुद के लिए जीने का चाव बढ़ा देता है. खुद का ही अनुभव है...

खैर...मुझे उस दिन अंदर पेल दिए जाने का कतई दुख नहीं है क्योंकि अंदर पहुंचते तो निगाह पड़ गई थी उन दोनों पर. और कोई दिन होता तो एक सांस में पच्चीस गालियां सुना गया होता, पर जैसे ही उन पर नजर पड़ी गुस्सा उड़न छू हो गया. वो गुलाबी रंग में और वो नीले रंग में. न जाने क्या खास था, दोनों एक ही नजर में जंच गए. सच कहूं तो उनका एक-दूसरे के इतने पास-पास होना, ट्रेन के हल्के-से धक्के में ही एक-दूसरे को छू लेना और फिर लजा जाना...मैं तो लगातार उनकी ओर देखता जा रहा था. जानता हूं ये शोभा नहीं देता, पर कुछ बातों पर आपका बस नहीं चलता. खासतौर पर तब, जब पूरी दुनिया...आई मीन पूरी ट्रेन के लोग ऑफिस जाने की व्यस्तता में और अपने-अपने मोबाइल में डूबे हों, तब कोई इतना रूमानी भी हो सकता है...

अहा...मेरे जैसे संजीदा लोग ऐसे पल के साक्षी न बनेंगे तो कौन बनेगा? हम इस पर खुश न होंगे तो कौन होगा? और यकीन जानिए, यह खुशी अपने आप में पाक खुशी थी. घाटकोपर आते-आते जैसे मेरी लॉटरी लग गई थी उस दिन. अचानक सीट पर बैठा एक यंग लड़का उठा और बोला, ''आप बैठ जाइए.'' मैंने भी उसे 'धन्यवाद'

कृतियां : सतरंगी मन (काव्य-संग्रह) डिजिटल कहानी संग्रह 'तुम सी' (जगरनॉट बुक्स). 19 वर्षों से पत्रकारिता में सक्रिय.

संप्रति : एडिटोरियल कंसल्टेंट, बी ब्यूटीफुल.

संपर्क : 205, वुडविल, रोडाज एन्क्लेव, हीरानंदानी एस्टेट, घोडबंदर रोड, ठाणे पश्चिम, ठाणे-400607

मो. : 9967974469

ईमेल : shilpaansharmaa@gmail.com

कहा. आप खड़े हों और कोई आपको अपने आप सीट ऑफर कर दे मुंबई की लोकल ट्रेन में...ये बात उसमें सफर करनेवाले ही जानते हैं कि ऐसी बातें किसी भी लॉटरी से कम नहीं होती. उस लड़के की उम्र होगी कोई 28-30 बरस. बिल्कुल मेरे बेटे अपूर्व जितनी. मैं सोच रहा था आज का दिन तो लकी साबित हुआ. एक नजर मैंने दोबारा गुलाबी और नीले रंग वालों की ओर डाली और मुस्कुरा दिया. पता नहीं...शायद इनका मिलना अच्छा रहा मेरे लिए. नसीब से नीले रंग वाले की आंखें मुझसे टकरा गई तो वह देखते ही मुस्कुरा दिया. उसे मुस्कुराता देख गुलाबी रंगत वाली ने एक नजर उस पर डाली और उसे जिस ओर देखता पाया उस ओर नजर फेंकी. उसकी आंखें मेरी आंखों से टकराईं तो वह भी मुस्कुरा दी.

दिन अच्छा गुजरेगा इस बात के पूरे संकेत मिल गए थे. सुबह लोकल पकड़ने के बाद से मन अच्छा था मेरा. पूरा दिन कब गुजर गया पता ही नहीं चला. थोड़ा जल्दी लौट लिया था उस दिन. साढ़े तीन बजे की ट्रेन ली थी. चार बजे अस्मिता का नंबर फ्लैश हो रहा था मेरे मोबाइल पर. अस्मिता, मेरी बेटी. स्कूल में पढ़ाती है. साढ़े तीन बजे तक घर पहुंचती है. उसके बाद अपने घर पर ट्यूशन लेती है. स्कूल से लौटने के बाद और ट्यूशन शुरू होने से पहले सप्ताह में दो-तीन बार फोन कर लेती है मुझको. चाहता तो न उठाता, क्योंकि फोन उठाने के बाद के सवाल-जवाब न उसे सुकून देते हैं न मुझे. पर मैं फोन न उठाता तो वो पड़ोस के फ्लैट में रहने वाली मिसेज देशमुख को फोन लगाती और मैं एक्सप्लेनेशन देते-देते थक जाता. मैंने फोन उठा लिया.

''हां, बाबा कैसे हो?''

''अच्छा हूं.''

''घर पर नहीं हो क्या?''

''क्यों, तुम आई हो क्या?''

''क्या बाबा, आज ट्यूसडे है. कोई छुट्टी का दिन तो है नहीं...''

''तो फिर इस सवाल का क्या मतलब?''

''मतलब क्यों नहीं? यूं लग रहा है, जैसे लोकल में बैठे हो.''

''हां, बैठा हूं.''

''कहां गए थे? कुछ काम था?''

''ऑफिस...''

''बाबा, ऑफिस...ऑफिस क्यों? अब तो सब निपट चुका न आपका काम?''

''हां...यूं ही...घर बैठकर क्या करता?''

''ये क्या बात हुई?''

मैं क्या जवाब देता? मेरी खामोशी पढ़ सकती थी वो. थोड़ा रुक कर खुद ही बोली.

''अच्छा अगले शनिवार को आती हूं.''

''ये तो तुमने पिछली बार भी कहा था.''

''बाबा, मेरी इस घर के प्रति जिम्मेदारियां भी तो हैं.''

''फिर निभाओ. और हर बार मुझसे विल बना लेने की जो बातें करते हो न तुम और अपूर्व...मेरे जाने के बाद प्रॉपर्टी को बेचने के लिए समय निकालना होगा तो भी शायद ही समय निकाल पाओगे.''

''बाबा...''

उसका दुख में भीगा स्वर मैं महसूस कर रहा था, पर कभी-कभी लगता है दोनों बच्चे मेरे अकेलेपन को महसूस नहीं कर पाते हैं. दो पल चुप रहकर मैं बोला, ''रखो बेटा. जब आओगी, बात करेंगे.''

मन थोड़ा उदास हो गया अस्मिता से बात करके. इधर-उधर की सोचते हुए फिर नीले और गुलाबी रंगत वालों की याद आ गई. चेहरे पर मुस्कान फिर लौट आई. तय कर लिया था कि कल भी 8.40 की ही ट्रेन लूंगा. क्या पता वे फिर मिल जाएं.

घर पहुंचा तो बाई सरोज खाना बनाकर जा चुकी थी. महक फैली थी घर भर में. फ्लैट की एक चाबी उसके पास भी रहती है. और मैं अच्छी तरह जानता था थोड़ी ही देर में या तो अपूर्व का फोन आएगा या फिर ऑफिस से लौटते वक्त पांच मिनट को घर आएगा वो. दोनों ही स्थितियां थोड़ी तल्ख होंगी, पर स्थितियां तो बनेंगी मिलने की. घड़ी देखी. चाय पी. रेडियो सुना. टी.वी. देखा. मोबाइल नहीं बजा. साढ़े आठ बज गए मैं खाने के लिए उठा. शाम को साढ़े आठ तक खा लेता हूं खाना. मधु ने आदत डाल दी थी, पिछले 12 सालों से. जल्दी खाना परसते हुए उसका एक ही डायलॉग होता था, ''पचास बरस के हो गए हो. जल्दी खाना खाया करो तो पचने का टाइम मिलेगा. सेहतमंद रहोगे.'' खाती तो वो भी थी साढ़े आठ बजे. सैंतालीस साल की उम्र से. सेहतमंद भी रही, पर...

खाना खत्म करके खिड़की के पास आ खड़ा हुआ. लोगों को आते-जाते देखकर लगता तो है कि जीवन चल रहा है. वरना रिटायर्ड आदमी का जीवन तो रुका-रुका सा हो जाता है.

''हमारा-तुम्हारा जीवन नहीं रहने वाला रुका-रुका सा...''

अचानक मुझे मधु की बात याद आ गई.

''क्यों?''

''बच्चे सेटल हो ही गए हैं. खूब घूमूंगी तुम्हारे साथ. कैसे रुका-रुका होगा जीवन फिर?''

जीवनसाथी भी चाहते कुछ हैं और होता कुछ और ही है. दगा दे जाती है जिंदगी अक्सर. खिड़की से बाहर झांक ही रहा था कि अपूर्व की कार रुकी. मैंने खुद को उसके सवालों के जवाबों के लिए तैयार किया. बेल बजी. मैंने दरवाजा खोला. अपूर्व के साथ प्रीति और कनिका भी थे. अंदर आने से पहले ही अपूर्व के सवाल शुरू हो गए थे.

''खाना खा लिया बाबा?''

''हां. और तुम लोगों ने?''

''मैं ऑफिस से निकला, प्रीति को उसके ऑफिस से पिक किया और कनिका को क्रैश से...अब घर जाकर खाएंगे.''

प्रीति भीतर से पानी ले आई. हम सभी को एक-एक ग्लास पकड़ाया और बोली, ''सरोज का फोन आया था...आप...''

''बाबा, क्यों करते हैं ऐसा आप?''

अपूर्व ने प्रीति की बात बीच में ही काटते हुए कहा. उसकी आवाज की तुर्शी अच्छी नहीं लगी मुझे. मैं चुप ही रहा. बेटा जब बड़ा हो जाए तो उसे ही खुद को समझदार समझ लेने देना चाहिए. मेरी चुप भी उसे बर्दाश्त न थी. उसके अगले सवाल में नरमाई थी...

''अच्छा कहिए, कहां गए थे आप?''

''यूं ही ऑफिस तक...''

''क्यों बाबा? आप रिटायर हो चुके हैं. सारे क्लेम्स, ड्यूज सेटल हो चुके हैं...फिर ऑफिस क्यों?''

''इतने सालों की आदत है...''

''अंदर भी जाने नहीं दिया होगा उन्होंने.''

''मैं अंदर गया भी नहीं.''

''तो फिर जाने का मतलब...?''

''थोड़ा समय निकल गया.''

''वो तो आप यहां भी घूम सकते थे.''

''यहां...? यहां घूमता तो पचास लोग पूछते घूमने की वजह?''

''आप हमारे साथ भी तो नहीं रहते.''

''उससे क्या होगा? तुम लोग तो काम पर चले जाया करोगे. वक्त तो मुझे अकेले ही काटना है...''

फिर अपूर्व ने कुछ नहीं कहा. थोड़ी देर बाद जैसे कमान प्रीति ने संभाल ली.

''हम लोगों को आपकी चिंता रहती है बाबा...''

''जानता हूं...''

''...पर हमारी अपनी व्यस्तताएं इतनी हो जाती हैं...''

''रहने दे बेटा. इस बारे में हम कितनी बातें कर चुके हैं. तुम लोग यहां नहीं रहना चाहते और मैं वहां रहूं तो भी मेरे लिए कोई बदलाव नहीं आने वाला. फिर यहां रहता हूं तो तुम्हारी आई आसपास है ये महसूस होता है. ये भी बहुत है मेरे लिए.''

''आप कहते हैं कि टाइम पास नहीं होता. आपसे कहा नहीं मैंने कि अपनी विल बनवा लीजिए, कुछ समय तो उसमें भी निकलेगा. व्यस्त भी रहेंगे और एक काम भी हो जाएगा...'' अपूर्व की आवाज में तल्खी थी, इसे प्रीति ने भी महसूस किया.

वह लगभग चीख पड़ी.

''अपूर्व...!''

''बोलने दे बेटा इसे. मैंने देसाई को बोल दिया है. वो जैसे ही मेरा बनाया हुआ ड्राफ्ट सुधार देगा, बन जाएगी विल. तुम और अस्मिता ही वारिस हो हमारी संपत्ति के. फिर भी न जाने क्या जल्दी है—विल बनवा लो, विल बनवा लो.''

''बाबा, आप भी जानते हैं कि मैं और अस्मिता अपनी-अपनी जगह अच्छे से सेटल्ड हैं. हमें आपकी संपत्ति की चाह नहीं पर, जिस तरह आई अचानक चली गईं...थोड़ी सावधानी रखने और कागज सही तरीके से रखने में बुराई क्या है?''

गलत तो नहीं कह रहा था अपूर्व. वह और अस्मिता बिना एक-दूसरे से सलाह-मश्वरा किए मुझसे कुछ कहते भी नहीं थे. मैं जानता था. पर शायद ये अकेलापन मेरे भीतर नए-नए तरीके से फन उठाता रहता है. मुझे चुप देखकर अपूर्व मेरे पास आ गया.

''मत जाया कीजिए बाबा. इस उम्र में यूं लोकल में ट्रैवल मत किया कीजिए. कोई काम हो, कोई वजह हो तो ठीक भी है. पर यूं नहीं...''

''हम्म्म...''

''अब हम लोग निकलें. कल हम दोनों का ऑफिस और कनिका का स्कूल भी है.''

कनिका दौड़कर मेरे पास आ गई. महज सात साल की है मेरी पोती.

''आजोबा, संडे को आप हमारे साथ चलना. मंडे को ग्रैंडपैरेंट्स डे है. आप चलेंगे ना स्कूल?''

''हां बेटा.'' मैंने उसके बालों पर हाथ फिराया.

और वो तीनों चले गए. मैं बिस्तर पर आया. साइड टेबल पर रखे फोटो फ्रेम में सबसे ऊपर मेरी और मधु की तस्वीर है. उसके नीचे लगी दो तस्वीरों में एक हमारे परिवार की है, जिसमें मैं, मधु, अस्मिता और अपूर्व हैं और एक हमारे पूरे परिवार की है, जिसमें मैं, मधु, अस्मिता, उसके पति नीरज, उनका बेटा अश्विन, अपूर्व, प्रीति और कनिका हैं.

रात नींद नहीं लगती जल्दी. मधु से बात कर लेता हूं. जब कोई नहीं होता घर में. मधु अपनी तस्वीर से ही बात कर लेती है मुझसे. या शायद मैं ही सारी बातें कर लेता हूं उससे. जो भी हो. इस घर में मधु के बिना अच्छा तो नहीं लगता, पर वो इस घर से गई ही कहां है? हर जगह, हर चीज, हर बात में मुझे यहीं नजर आती है. महसूस करता रहता हूं उसे, बस छू नहीं सकता.

मधु, ये लोग रोकते हैं मुझे घर से बाहर निकलने को. पर न जाऊं तो यहां अकेला बोर हो जाता हूं. सुबह-सुबह आठ चालीस की लोकल पकड़ने की धुन में सही समय पर तैयार हो जाता हूं. तुम तो जानती हो, कैसे छुट्टियों के दिनों में मेरा स्नान-ध्यान ही 12 बजे तक हो पाता था. जब तक तुम झिड़कती नहीं थीं, कहां जाता था स्नान के लिए? अब यदि लोकल पकड़ने की न सोचूं तो कैसे तैयार होऊंगा समय पर? कौन है झिड़कने वाला मुझे? जानता हूं 11 बज गए हैं. अब यदि न सोया तो सुबह समय पर कैसे उठूंगा? चलो-गुड नाइट.

अरे हां, तुम्हें आज लोकल की प्रेम कहानी तो सुनाई ही नहीं. अहा! क्या जोड़ी थी. नीले और गुलाबी रंगत वालों की. जानती हो, नाम तो पूछ नहीं सकता था उनका. तो चलो यूं समझ लो की नीले वाले का नाम नील और गुलाबी वाली का नाम रोज रख देते हैं. नील और रोज का ट्रेन के हिलने के साथ-साथ शरमाते हुए एक-दूसरे को छू लेना...बिल्कुल वैसा ही था मधु, जैसा हमारी सगाई और शादी के बीच हमने प्यार भरा समय बिताया था.

न जाने कितनी देर बात की मैंने मधु से. न जाने कितनी देर उसने सहलाए मेरे बाल, हमेशा की तरह. फिर सुबह का अलार्म बजा. हमेशा की तरह साढ़े पांच बजे. अलसाया-सा, पर उठ ही गया मैं.

योग करते-करते ही साढ़े छह बज

गए. ठीक साढ़े छह पर आ जाती है सरोज. आ गई. उसने नाश्ता और खाना बनाया.

''लंच टिफिन में पैक कर देना सरोज.''

मेरा निर्देश सुनते ही तीखी-सी आवाज में बोली, ''किधर जाना मांगता है तुमको? अबी रिटायमेंट के बाद घर पे बैठने का ना. क्या खाली फोकट घूमता है तुम साब? दीदी और बाबा को कितना फिकिर होता है तुम्हारा!''

घरेलू कामगार यदि हमारे यहां लम्बे समय तक काम कर लें तो वो भी जैसे आपको डांट पिलाने का अधिकार रखने लगते हैं. उसने पिलाई डांट, मैंने पी ली. कुछ जवाब ही नहीं दिया. जब जवाब ही नहीं दिया तो काम मेरी मर्जी का ही हुआ पर हर उस डब्बे, जिसमें उसने लंच पैक किया, उसकी पिटाई की आवाज मुझे सुनाई दे रही थी. टन-टन, ढप-ढप, ठक-ठक की आवाजें और फिर डब्बों के कराहने की आह, उह, आउच जैसी आवाजें भी.

''हर बात, हर काम दूसरों के हिसाब से करे तो आदमी खुद के हिसाब से कब जिए?'' मैं बाल बनाते-बनाते मधु से बात कर रहा था.

मधु मुस्कुरा रही थी, ''तो करो अपने मन की...''

इधर सरोज काम खत्म कर के निकली और उधर उसके पीछे-पीछे मैं भी निकल गया. पकड़नी जो थी 8.40 की लोकल. आखिर घर में पड़े-पड़े बोर होने से बेहतर है कि बाहर घूम लूं. कहीं किसी पेड़ के नीचे बैठ कर लंच खा लूं और घर लौटूं. पांच-छह घंटे आसानी से कट जाते हैं. फिर आज तो नील और रोज को देखने का उत्साह भी मेरे साथ था. मेरा प्यार, मेरी मधु मेरे साथ नहीं तो क्या नील-रोज को साथ देखना मुझे थोड़ी खुशी दे जाएगा.

वही ट्रेन, वही समय और वही डब्बा लिया मैंने. आज भीड़ बहुत ही ज्यादा थी. आज बाहर खड़े रहने का सवाल भी नहीं था. रोज-नील को देखने अंदर जाना ही ठीक लगा. और कल की भीड़ की धक्कमपेल ने भी तो जहन और बदन दोनों ही जगह अपनी छाप छोड़ रखी थी. भीड़ की वजह से नील और रोज एक-दूसरे के बेहद करीब थे. उन्होंने मुझे नहीं देखा था, लेकिन मैं उन दोनों को भीड़ के बहाने एक-दूसरे को स्पर्श करते हुए देख रहा हूं. धक्कम-पेल में रोज की बटन नील के चेन में फंस गई थी, दोनों की आंखें एक-दूसरे की आंखों से टकराईं...मैं अतीत में पहुंच गया.

मधु और मेरी शादी के शुरुआती दिन थे. गुलाबी प्यार के दिन. लाल प्यार के दिन. नारंगी प्यार के दिन. यूं ही एक दिन ऑफिस से जल्दी घर चला आया था. बेताब जो था मन मिलन को. घर पहुंचा. कैसे लजा गई थी मधु.

''हम तुम नहीं जानते मधु...पर कौन ये बात दावे के साथ कह सकता है कि उन्हें आपस में रहते-रहते प्रेम न होता होगा? आखिर क्या हम सब किस का साथ, किसी का समर्थन पाने को नहीं तरसते? और जिनके साथ लंबे समय से रह हों, उनसे प्रेम होना, लगाव होना तो लाजमी है...''

''ये कैसा उतावलापन है? बस, इसीलिए घर लौट आए. मैं कहीं भागी जा रही थी?''

''मन जो भागा जा रहा था तुम्हारे पास. काम में मन भी नहीं लग रहा था.''

और फिर मैं मधु को आलिंगन में लेकर अपने होंठों से जगह-जगह छू ही रहा था कि उसके कान के बालियों की चेन मेरे शर्ट की बटन में उलझ गई. मधु कितनी जोर से चिल्लाई थी. मैंने लाख कोशिश की पर वह निकल ही नहीं रही थी. आखिरकार मैंने मधु के कान को हौले से इस तरह पकड़ा कि उसे दर्द न हो और बटन को झटके से तोड़ दिया. फिर हम दोनों खूब हंसे. उसके बाद हमारे बीच गुजरे प्यार के उफान को मधु और मैं अक्सर याद कर लिया करते थे.

यह सोचते-सोचते दोबारा रोज और नील को देखा. वो दोनों अब भी एक-दूसरे को अपलक निहार रहे थे. उफ कितना रोमांटिक है ये!

फिर हल्की-सी झपकी लग गई थी मेरी. आंख खुली तो देखा रोज और नील अपने-अपने डेस्टिनेशन पर उतर गए हैं. मस्जिद आ गया था. अगले स्टेशन सीएसटी पर मुझे भी उतरना ही था. पर न जाने क्यों आज मेरा मन नहीं हुआ अपने ऑफिस के आसपास जाने का. पैरों में थोड़ा दर्द था. सोचा स्टेशन पर यूं ही बैठूंगा कुछ देर. वहीं खाना खा लूंगा. थोड़ा समय गुजार कर वापस चला जाऊंगा.

आते-जाते लोगों को देखना अच्छा लग रहा था मुझे. कम से कम घर पर अकेले बैठने से तो बहुत ही अच्छा था ये. अचानक मेरी नजर स्टेशन पर लगी दो घड़ियों पर पड़ी. एक बंद थी. एक चल रही थी. बंद घड़ी को ध्यान से देखा तो पाया उसका एक कांटा ही नहीं है. बड़ा वाला. ओह! कितना दर्द महसूसता होगा ये अकेला कांटा. अपने साथी से बिछोह का दर्द बहुत काटता है. पहले ऐसा नहीं सोचता था मैं. शायद काम में व्यस्त रहता था. शायद मेरे पास मधु थी इसलिए. न जाने क्यों जो घड़ी चल रही थी. जिसके पास उसका साथी था, उसके लिए दुआ निकल आई, ''तुम्हारा साथ बना रहे. यूं ही साथ-साथ रहो. चलती रहो.''

न जाने आजकल क्या कुछ सोचने लगा हूं. खुद पर ही हंस पड़ा मैं. अच्छी बात ये रही कि आज घर लौटने तक न अपूर्व का फोन आया, न अस्मिता का और ना ही सरोज आ पाई थी. दोपहर के तीन ही बजे थे. जल्दी लौट आया तो किसी को जवाब देने की जरूरत ही नहीं थी. घर पर अकेला बैठा था तो पास बने नाना-नानी पार्क तक जाने का मन हो आया. धीरे-धीरे वहां पहुंचा तो देखा गेट के पास ही लगे सी-सॉ का एक हिस्सा टूट गया है.

''उफ ये क्या! परसों शाम तक तो ठीक था यह,'' मैं बुदबुदाया. ''भई कौन तोड़ गया तुमको? तुम भी अपने दूसरे साथी

के बिना बुरा महसूस कर रहे होगे. आजकल यही देख रहा हूं. साथियों का बिछड़ना और तन्हाई.''

तभी पीछे से हमारे पड़ोसी मिस्टर बैनर्जी आ गए.

''हेलो मिस्टर सुर्वे. ये अकेले-अकेले ओप किससे बात कर रहा है?''

''अरे कुछ नहीं. बस ये देख रहा था कि ये सी-सॉ किसने तोड़ दिया.''

''अच्छा-अच्छा...तोबियत कैसा है आपका?''

''तबियत को क्या होना है? अच्छी है. इस उम्र में केवल बीपी की एक गोली खा रहा हूं. बस...'' यह कहते हुए मुस्कुरा दिया मैं.

''चलिए बोढ़िया है. ओपूर्ब के पास नहीं गया ओप बहुत दिनों से?''

''कल ही जाना है. ग्रैंडपैरेंट्स डे है ना कनिका का...मंडे को.''

''ओच्छा ओच्छा. अब मैं जाता हूं. तोरकारी लेने निकला था. ओप को देखा तो इधर आ गया.''

मिस्टर बैनर्जी चले गए तो थोड़ी देर पार्क में बैठ कर मैं भी घर आ गया. शुक्रवार आ गया. रात को अपूर्व, प्रीति और कनिका आ गए. मैंने एक बैग में आपके कुछ कपड़े पहले ही रख लिए थे. मेरे बैग का साइज देख कर प्रीति ने पूछा, ''बाबा, इतना-सा बैग? कुछ दिन वहीं रहिए ना अब.''

''रहूंगा ना मंगलवार तक. सोमवार को कनिका का ग्रैंड पैरेंट्स डे होगा. मंगल को जब तुम लोग ऑफिस और स्कूल के लिए निकल जाओगे, उसके बाद मैं यहां चला आऊंगा.''

अपूर्व खीझते हुए बोला, ''बाबा, ये क्या बात हुई? अब जब चल रहे हैं हमारे साथ तो कम से कम सप्ताहभर तो रुकिए.''

''भई, तुम लोग दबाव बहुत बनाते हो. तुम लोग चले जाते हो तो मैं वहां बोर होता हूं. कोई खास जान-पहचान नहीं है लोगों से वहां. और कौन-सा मैं दूर रहता हूं. मैं ठाणे और तुम लोग मुलुंड जब चाहे आ सकते हो. पर...'' मैं भी बिफर ही पड़ा.

प्रीति ने बात संभाली, ''अच्छा अब आप दोनों बहस मत करिए. चलिए बाबा, आपको अच्छा लगे तो और रुक जाइएगा. नहीं तो आ जाइएगा. हम लोग बस, इसीलिए जोर देते रहते हैं कि आपके अकेले रहने से हमें चिंता होती है. कल ही सरोज कह रही थी कि...''

अपना वाक्य अधूरा छोड़ दिया प्रीति ने. वो अपूर्व की ओर देख रही थी और अपूर्व ने उसे शायद चुप रहने का इशारा कर दिया था.

''...क्या कह रही थी सरोज?''

''अम्म्म...म्म्म...यही कि आप...आप शायद काफी अकेलापन महसूस करते हैं आजकल,'' प्रीति ने अटकते-अटकते अपनी बात पूरी की.

''और देखो...सरोज को भी ये समझ में आता है.''

''बाबा, ये घर छोटा है. हम यहां कैसे शिफ्ट हो सकते हैं. कनिका को भी तो अपना कमरा चाहिए. फिर किसी न किसी मेहमान का आना लगा रहता है. हमारा फ्लैट तीन कमरों का है. बड़ा है इसीलिए आपसे कहते हैं वहां शिफ्ट होने,'' अपूर्व मनाने लगा मुझे.

''देखो अपूर्व. तुम्हारा घर बड़ा है, पर मैं पूरी जिंदगी यहां रहा हूं. तेरी आई की यादें हैं यहां. जैसे तुम्हारा यहां आना मुश्किल है, मेरा वहां लंबे समय तक बना रहना मुश्किल है.''

''बाबा, आपसे कुछ कहना ही बेकार है. अस्मिता ही समझाएगी आपको. अभी चलें?''

''मैं तो तैयार ही हूं.''

अपूर्व के यहां दो दिन अच्छे बीते. प्रीति बहुत ख्याल रखती है मेरा. कनिका की बातों में दिन कब निकल जाते हैं, पता ही नहीं चलता. मुझे अपने ग्रैंड पैरेंट्स डे में ले जाकर खूब खुश थी वो. अपने सारे दोस्तों से मुझे मिलवाया. और उसका सबसे अच्छा दोस्त है विहान. उससे मिलवाते हुए बोली, ''देख विहान, मैंने कहा था ना मेरे आजोबा जरूर आएंगे...देखा वो आ गए.''

विहान ने दुखी हो कर मुंह बनाते हुए कहा, ''मेरी नानी बीमार पड़ गई इसलिए नहीं आ पाई.''

कनिका ने पट से कहा,''कोई बात नहीं तू चाहे तो मेरे आजोबा को अपना आजोबा कह सकता है.''

मैं मुस्करा दिया. कितना बड़ा दिल है मेरी बच्ची का. गर्व हो आया उस पर.

अपूर्व, प्रीति और कनिका के निकलते ही मैं भी निकल आया. ट्रेन ले ली. मुलुंड और ठाणे के बीच दूरी ही कितनी है? अगला ही स्टेशन तो ठाणे है. घर तो मैं कुछ रुक के भी जा सकता हूं. कोई खास काम भी तो नहीं वहां और सरोज भी पांच बजे के बाद ही आएगी. तब तक सीएसटी तक ही घूम लेता हूं. यह सोच कर मैंने छत्रपति शिवाजी टर्मिनस जाने वाली ट्रेन ले ली. ट्रेन में घुसते ही अंदर की ओर नजर डाली तो पाया कि नील और रोज भी इसी बोगी में हैं. अरे वाह...अच्छा इत्तफाक है! रास्ता अच्छा कटेगा और फिर इसी ट्रेन में बैठ कर लौट भी जाऊंगा. इस तरह घर पहुंचते-पहुंचते तीन-चार तो आराम से बज ही जाएंगे. बोगी इस वक्त कुछ खाली थी. नील और रोज के सामने वाली सीट पर मैं बैठ गया. ट्रेन ने तेज गति पकड़ ली थी. मैंने वहां बैठते हुए सोचा आज इन्हें अच्छे से निहारा जा सकता है. पर उनके बीच की बातचीत सुन कर मुझे चक्कर-सा आने लगा.

''मुझे वेस्टर्न सबर्ब्स में नौकरी मिल गई है. मैं कल से जॉइन कर रहा हूं,'' उसने कहा, जिसने अपने कांधे पर नील को टांग रखा था.

''ओह...दैट्स ग्रेट! पार्टी कब देगा?'' ये बड़ी खुशी से उसने पूछा, जिसके कंधे पर रोज टंगी हुई थी.

''जब तू बोले...'' यह कहकर उसने नील की जिप खोलकर भीतरी जेब में हाथ डाला और अपना मोबाइल निकाला. मोबाइल में कुछ देखते हुए बोला, ''इस शुक्रवार की

शाम को मिल घाटकोपर में...''

अपने हाथ में रखी हुई किताब को रोज के भीतर रखते हुए उसने कहा, ''पक्का. मैसेज करता हूं. बाय! फ्राइडे को मिलते हैं,'' यह कहते हुए उसने रोज का बटन बंद किया और उसे अपने कंधे पर टांगकर उतर गया.

उफ! ये बिछोह देखना ही क्यों है मेरी किस्मत में? मधु चली गई. घड़ी का कांटा टूट गया, सी-सॉ का एक हिस्सा टूट गया और अब नील और रोज भी जुदा हो गए. मेरी जरा-जरा सी खुशी भी बर्दाश्त नहीं ईश्वर को? अच्छा हुआ मैंने रोज और नील की आंखों में नहीं देखा...मैं बर्दाश्त नहीं कर पाता.

उदास-सा ट्रेन में बैठा-बैठा मैं सीएसटी भी पहुंच गया. कोच में बैठे-बैठे ही किसी ने बता दिया कि यह ठाणा स्लो लोकल है तो ट्रेन से उतरा भी नहीं. कहीं घूमा भी नहीं. वापस लौट चला. मैं रोना चाहता था. फूट-फूट कर रोना चाहता था. घाटकोपर आया. फिर मेरी आंखें रोज और नील को याद कर के पनीली होने लगीं. जज्ब करता रहा. ट्रेन को भी न जाने क्या हो गया था. रेंग रही थी. फिर आधे घंटे के लिए एक ही जगह खड़ी हो गई. वैसे भले ही रातभर न सोता हो और न रुकता हो यह शहर पर लोकल ट्रेंस में आई तकनीकी दिक्कतें कई बार इसे जैसे थमने पर मजबूर कर देती हैं.

अचानक मोबाइल पर मैसेज फ्लैश हुआ—घर पहुंच गए बाबा? अपूर्व का था. झूठ ही लिख दिया—हां. इस वक्त यूं भी मन दुखी था. किसी भी तरह की बहस नहीं कर सकता था. जिस ट्रेन को मुझे तीन बजे तक ठाणे पहुंचा देना चाहिए था उसने साढ़े चार बजे पहुंचाया. घर पहुंचते-पहुंचे सवा पांच बज गए थे. मेरी किस्मत खराब ही थी आज. सरोज मेरे आने से पहले आ पहुंची थी.

''किधर रह गया था तुम? अपूर्व बाबा और अस्मिता दीदी का फोन आया दो बार.''

''क्या कहा तुमने?''

''वोइच कहा जो देखा. घर पे नई है तुम.''

नील-रोज के बिछड़ने से मैं यूं भी भरा हुआ था. सरोज की बात अनसुनी करता हुआ मैं भीतर आ गया. मधु की तस्वीर के सामने जा पहुंचा और जोर-जोर से रो पड़ा. उसे नील और रोज के बिछड़ने की बात भी बताई. तब कहीं जा कर मन हल्का हुआ. पर मधु ने कोई खास प्रतिक्रिया नहीं दी. शायद सरोज घर पर थी इसलिए. सरोज के जाने के बाद मैं फिर फूट-फूट कर रोया मधु की तस्वीर के आगे. संभाल लिया उसने मुझे. सहलाती रही मेरे बालों को.

''क्यों करते हो ऐसा? कभी रोज और पिंक की प्रेमकथा में खो जाते हो तो कभी कभी घड़ी की सुइयों की प्रेमकथा में. कहीं बैग भी आपस में प्रेम करते हैं भला? कहीं घड़ी की सुइयों को प्रेम होता है एक-दूसरे से?''

''हम तुम नहीं जानते मधु...पर कौन ये बात दावे के साथ कह सकता है कि उन्हें आपस में रहते-रहते प्रेम न होता होगा? आखिर क्या हम सब किस का साथ, किसी का समर्थन पाने को नहीं तरसते? और जिनके साथ लंबे समय से रह हों, उनसे प्रेम होना, लगाव होना तो लाजमी है...''

''तुम आजकल कुछ अजीब सोचने लगे हो. दावे के साथ कोई कहे न कहे, पर दुनिया में कौन ऐसा है जो सी-सॉ के एक हिस्से के टूटने पर दूसरे हिस्से के पास प्यार जताने जाता हो? कहो, कोई करता है ऐसा.''

''नहीं करते तो करना चाहिए न लोगों को. बिछोह पीड़ादायक होता है. सभी के लिए. कुछ लोगों के लिए कुछ ज्यादा...'' मेरी आंखों में फिर आंसू उतर आए.

''चलो, मुंह-हाथ धोओ और खाना खा लो. बातों में तुमसे कोई जीत नहीं सकता. और इस उम्र में आंखों में ये मोटे-मोटे आंसू लिए तुम अच्छे भी नहीं लग रहे.''

मधु के जवाब से मेरे चेहरे पर मुस्कान आई. मैं उठा. मुंह धोया. खाना खाया. जब सोने के लिए बिस्तर पर पहुंचा तो अचानक कुछ अजीब-सा लगा. ये जानने के बाद भी कि मैं पांच बजे तक घर नहीं पहुंचा था. अपूर्व को झूठी सूचना दी थी घर पहुंचने की, न तो अपूर्व का फोन आया ना ही अस्मिता का. ऐसा कभी नहीं होता. झल्लाए हुए ही सही, पर फोन तो करते हैं वो दोनों ही. एक मन हुआ दोनों को फोन कर लूं या फिर दोनों में किसी एक को. फिर सोचा, वीकडे है...शायद थके हों दोनों ही. मधु से भी कह दिया, ''सुनो, कल कर लूंगा फोन. माना नाराज होते हैं, पर हैं तो अपने ही ना! अपने बच्चों से थोड़ी डांट सुन लूंगा तो छोटा तो नहीं हो जाऊंगा? और दोनों को फिक्र रहती है मेरी इसीलिए तो जिरह-बहस करते हैं.''

मधु ने भी हामी दे दी. न जाने कब सो गया. थका तो था ही. उदास भी था ऊपर से.

सुबह साढ़े पांच बजे का अलार्म कब मैंने बंद कर दिया, मुझे याद ही नहीं रहा. नींद खुली सरोज के घंटी बजाने से. दरवाजा खोला. पर ये क्या? सरोज अकेली नहीं थी बाहर.

अस्मिता और अपूर्व दोनों उसके साथ थे.

''अरे, इतनी सुबह-सुबह आ गए तुम दोनों? कैसे?''

अस्मिता मुस्कुरा कर लाड़ जताते हुए बोली,''क्यों बाबा? अपने घर आने के लिए क्या हमें समय देखना होगा?''

''नहीं बाबा...पर तुम लोग आज... आज वीक डे है ना?'' मैं दोनों को इस तरह सुबह-सुबह और साथ-साथ आया देखकर अब तक सामान्य नहीं हो पाया था.

''कल रात हम दोनों ने बात की और प्लैन किया कि छुट्टी लेकर आज का दिन आपके साथ बिताएंगे. आपका मन भी बदल जाएगा.''

अपूर्व इतने स्नेह से बात कर रहा था मुझसे. वो प्यार करता है मुझसे. बेटा है मेरा. पर अर्सा हुआ उसने इतने अपनेपन से कुछ कहा हो. मधु के जाने के बाद से तो...शायद दूसरी या तीसरी बार उसने इतने प्यार से बात की होगी.

''अब अंदर आ जाएं क्या बाबा?'' अस्मिता हंसते हुए बोली.

''हां...हां...'' मैं अचकचाते हुए दरवाजे से हट गया.

अस्मिता अंदर आते हुए सरोज से बोली,''सरोज आंटी, नाश्ता मैं बनाऊंगी. और खाना हम तीनों बाहर ही खाएंगे. आप बस नाश्ते की तैयारी में मेरी मदद कर दो.''

पेपर लेकर बैठ गया अपूर्व. बच्चों के आने से घर गुलजार-सा हो गया. मैं जल्दी से अंदर गया. हाथ-मुंह धोना चाहता था. पर फिर सोचा जल्दी से स्नान ही कर लूं. स्नान कर ही रहा था कि अस्मिता की आवाज आई, ''बाबा जल्दी आओ, मैंने चाय बना ली है.''

बुढ़ापे में चाहने पर भी जल्दी-जल्दी हाथ-पैर कहां चलते हैं? खैर जैसे-तैसे स्नान कर के बाहर निकला. बच्चों के साथ चाय पी कर मजा आया. भई चाय का मजा तो तभी है, जब दो-तीन लोग साथ बैठकर चाय पिएं, गप्पें मारें. और हम वही कर रहे थे.

''बाबा, आपको नहीं लगता कि हमारे देश में कम्यूनल वाइलेंस कुछ ज्यादा ही हो रहा है इन दिनों,'' अपूर्व के हाथ में चाय का कप था और उसकी नजरें पेपर पर थीं.

''सत्ता में बने रहने के लिए दांव-पेंच तो खेलने पड़ते हैं. अभी के राजनेताओं को राज करने से मतलब है केवल. वो अंग्रेजों की नीति का ही पालन कर रहे हैं–फूट डालो शासन करो.''

''इन्हें देश को आगे ले जाने की डेवलपमेंट की चिंता होनी चाहिए, लेकिन ये तो जनता को दो-फाड़कर के सरकार में बने रहने की सोचते हैं,'' अस्मिता बोली.

हमने ढेर सारी बातें कीं. नाश्ते में अस्मिता ने मेरी पसंद का थालीपीठ बनाया. दिल खुश हो गया. यूं लगा पुराना समय लौट आया हो. बस, मधु की कमी थी.

ग्यारह बज गए थे.

''बाबा, कपड़े बदल लीजिए. हम लोग बाहर खाना खाने चलेंगे और उससे पहले एक लॉन्ग ड्राइव पर,'' अपूर्व बोला.

मैं तैयार हो गया. हम तीनों घर से निकल पड़े. कार अस्मिता ड्राइव कर रही थी. मैं उसके बगल में बैठा था और अपूर्व पीछे.

''बाबा, आपसे कुछ बात करनी थी...'' अस्मिता की आवाज में गंभीरता थी.

''हां, कहो.''

अब कमान अपूर्व ने संभाल ली थी.

''बाबा, हम दोनों को अलग-अलग लोग आपके बारे में जो बातें बता रहे हैं, वे हमें परेशान कर रही हैं...''

''जैसे कि...'' मेरी आवाज में तुर्शी थी.

''बाबा, जैसे सरोज ने मुझे कल बताया था कि आप शाम को आई की तस्वीर के पास बैठे 15 मिनट तक जाने क्या कुछ बोलते हुए रो रहे थे...'' अस्मिता ने कहा, ''और ये केवल कल की ही बात नहीं है. उसने कई-कई बार आपको अकेले बैठे-बैठे आई की तस्वीर से बात करते देखा है...''

मैं चुप था.

''बैनर्जी अंकल का फोन आया था एक दिन मेरे पास. कह रहे थे कि आप टूटे हुए सी-सॉ से बात कर रहे थे. और देशमुख आंटी तो जब-तब फोन कर के बताती रहती हैं कि कभी आप सोसाइटी में सालों से खड़ी पुरानी भंगार जैसी कार से कुछ बातें करते रहते हैं तो कभी टूटी हुई चप्पल की एक जोड़ी हाथ में लिए सोसाइटी की बेंच पर बैठे रोते रहते हैं...बाबा, ये सब नॉर्मल तो नहीं है ना?'' बहुत चिंता थी अपूर्व के स्वर में.

मैं गंभीरता से उन्हें सुन रहा था. कोई विचार नहीं आ रहे थे मेरे मन में. न मैं उन्हें कोई जवाब देना चाहता था, न दे पाने की स्थिति में था.

''हम लोग कितना कहते हैं कि आप अपूर्व के साथ रहिए. आप अकेलापन महसूस नहीं करेंगे, लेकिन आप कहां सुनते हैं हमारी? आई की यादें अपनी जगह हैं बाबा. पर कौन-सा जोड़ा साथ-साथ रह पाता है हमेशा? दोनों में से किसी एक को तो पहले ही जाना होता है. और दूसरे को न चाहते हुए भी इस दुनिया में दिल लगाना पड़ता है. कोशिश करनी पड़ती है. आप वो कोशिश नहीं कर रहे हैं बाबा. आप तो अपने कवच में सिमटते जा रहे हैं...लोगों से बात करने की बजाय आप जब-तब निर्जीव चीजों से बात करते रहते हैं...बताइए, क्या ये सही है?'' अस्मिता की आवाज में बहुत स्नेह भी था और परेशानी भी.

''मैंने और अस्मिता ने तय किया है कि अब हम सप्ताह में एक दिन आपके साथ बिताएंगे. एक पूरा दिन अस्मिता आपके साथ रहेगी और एक पूरा दिन मैं. और महीने में एक दिन हम दोनों. पर बाबा आपको हमारा पूरा साथ देना होगा इसमें. हम जो कहेंगे वो करना होगा. करेंगे ना?'' अपूर्व ने जैसे मनुहार की.

मैंने नम आंखों के साथ हामी में सिर हिलाया.और हम तीनों कुछ समय के लिए खामोश हो गए. कोई तीन-चार मिनट बाद हमारी कार एक सोसाइटी के भीतर घुसी जिसके पहले तले पर एक बोर्ड था. जिस पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था : डॉ. अमेय शर्मा, साइकियाट्रिस्ट.

❐

दलित विशेषांक 2019 : एक मुआयना

मुसाफिर बैठा

बीच बहस में

हंस नवंबर और दिसंबर 2019 अंक दलित विशेषांक है जो दलित कथाकार अजय नावरिया के संपादन में आया है. हंस के मार्च 2020 अंक में एक कद्दावर दलित लेखक रत्नकुमार सांभरिया की दीर्घ चिट्ठी 'आलोचनाधर्मिता पर सवाल' शीर्षक से अपना मोर्चा स्तंभ में छपी है जो नवंबर 2019 के विशेषांक में छपे एक दूसरे कद्दावर दलित आलोचक- कवि कंवल भारती के विवादास्पद आलेख की तल्ख प्रतिक्रिया के रूप में है. सांभरिया का मानना है कि इस आलेख के जरिये आलेखक भारती एवं संपादक नावरिया की दुरभिसंधि के तहत उनका चरित्रहनन किया गया है. चिट्ठी की मार्फत उन्होंने अपने आरोप और अपना बचाव रखा है और इन दोनों से हंस के मंच से अपने पूर्वग्रहों पर आगे सफाई देने की चुनौती भी दी है. मैं भी इस चुनौती को गंभीर मानता हूं.

कंवल भारती के दलित कहानी विषयक उक्त आलोचना-लेख पर नजर डालें तो सांभरिया के प्रति उनका एक स्पष्ट पूर्वग्रह नजर आता भी है. भारती की नादानी कहें अथवा पूर्वग्रह कि उन्होंने सांभरिया को आरंभिक हिंदी दलित कथाकारों में शामिल न कर दूसरी लेखक पीढ़ी के साथ बिठा दिया है और कोढ़ में खाज यह कि इस पीढ़ी के एक कद्दावर कथाकार, जो इन विशेषांकों के संपादक भी हैं, अजय नावरिया से निरर्थक तुलना करते हुए इस स्थापना के साथ अपने आलेख का अंत कर नावरिया-स्तुति की इंतिहा भी रच दी है कि 'ओमप्रकाश वाल्मीकि के बाद दलित कहानी के इस दौर को दलित साहित्य के इतिहास में नावरिया युग कहा जा सकता है.' यह तब है जबकि भारती कहते हैं कि उन्होंने नावरिया की कुछ ही कहानियां पढ़ी हैं. हालांकि यह 'कुछ ही' पढ़ना भी शीयर रिजेक्शन अथवा टोटल एक्सेप्टेंस का वायस/निर्धारक नहीं हो सकता. चंद्रधर शर्मा गुलेरी को एक कहानी 'उसने कहा था' ही अमर कर गई.

लेकिन, चोर की दाढ़ी में तिनका का सवाल दरअसल तब आता है जब नावरिया के लिए भारती ने केवल और केवल प्रशंसा के बोल ही चुने हैं, किसी भी तरह से उनकी आलोचना नहीं की है, बल्कि भारती ने सांभरिया को छोड़कर जिस किसी की भी चर्चा की है उसमें नकारात्मक टिप्पणी नहीं रोपी है. सो, सांभरिया का बिफरना स्वाभाविक है. बिफरने की वजहें कुछ और भी हैं.

तुलना बेमानी है, लेकिन करनी ही पड़े तो मेरे जानते, अजय नावरिया के कलावाद से लंबी, आगे की लकीर खींचते नजर आते हैं वानखेड़े. यह भी कि वाल्मीकि के बाद यदि दलित कहानी में कलावाद के निवेश और वैशिष्ट्य की स्पष्ट अथवा डिस्टिंक्ट उपस्थिति मिलती है तो वह वानखेड़े के यहां. इसलिए वाल्मीकि के बाद नावरिया में दलित कहानी के नए युग आदाता के बतौर देखने की भारती की पैरवी मुझे आश्वस्त नहीं करती.

पुनः सांभरिया प्रकरण के समीप लौटें तो अब लेखन के प्रारंभिक दिनों में दलित साहित्यकार कहलाने से बचने अथवा दलित साहित्य से विरोध/परहेज रखने अथवा उससे अपने को काटने की सांभरिया की सायास कोशिश दिख रही है, मगर, इसे साबित करने में कोई सवा पेज में पसरे पांच बड़े बड़े उद्धरण खर्च कर डालने का क्या औचित्य था जब लेख 'दलित कहानी के विकास पर कुछ नोट्स' के रूप में है न कि किसी व्यक्ति विशेष की खिंचाई पर नोट्स? अब छह पृष्ठों के आलेख में अगुआ कथाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि की चर्चा में एक पृष्ठ से थोड़ा अधिक खर्च करने की बात तो समझ में आती भी है मगर एक से अधिक पेज कागद कारे करने में उस कृतिकार पर खर्चने का क्या मतलब जब उसे अंतिम रूप से हास्यास्पद और कहानी कला में अज्ञानी-फूहड़ ही साबित करना हो? सांभरिया की जिस कहानी 'चमरवा' के अंत को भारती हास्यास्पद करार देते हैं उसी कहानी की सोद्देश्यता पर मुहर लगाते हुए प्रमोद मीणा (हंस, मार्च 2020, पृष्ठ 87) सकारात्मक टिप्पणी करते हैं—'कहानीकार दिखाता है कि अपनी जातीय पहचान से मुंह चुराकर ऊंची जाति के साथ घुलने-मिलने वाले लोग इधर के रहते हैं और ना उधर के.'

होना तो यह चाहिए था कि सांभरिया के व्यक्तित्व एवं रचना की कमियों-कमजोरियों को चिन्हित करते हुए उनके व्यक्तित्व और रचना के विकास को भारती सामने लाते जिससे सांभरिया का एक ठोस आलोचनात्मक मूल्यांकन सामने आता. यहां तो उनका कोई ठोस व्यक्तित्व एवं

रचनात्मक अवदान ही स्थिर नहीं किया गया है, कुल मिलाकर दोनों मोर्चों पर उन्हें ढहाया ही गया है. आलेख में एकमात्र सांभरिया को ही आक्रमण के लिए चुना गया है. हां, यहां सांभरिया की शिकायत का एक हिस्सा अप्रासंगिक-अनुचित अथवा मिसफिट बैठता है वह यह कि उनकी रचनाओं पर लंबे समय से अनेक विश्वविद्यालयों में एमफिल-पीएचडी शोध हो रहे हैं, उनकी रचनाएं वहां पाठ्यक्रमों में लगी हैं इसलिए उन्हें वरिष्ठ और महत्त्वपूर्ण लेखक समझा जाए. यह अतार्किक है. वरिष्ठता की गिनती के लिए रचना के प्रकाशन का काल कंसीडर होगा न कि रचनाकार की उम्र. भारतीय मूल के अंग्रेजी लेखक नीरद सी चौधरी ने तो लगभग 50 की उम्र में लिखना शुरू किया था. जाहिर है, उनके कितने ही हमउम्र उनसे पहले की पीढ़ी के लेखक रहे. फिर विपुल मात्रा में और मंचों से छपना आवश्यक रूप से उम्दा लेखक होना नहीं है.

आलेख कुछ अन्य गम्भीर विसंगतियों अथवा कमियों का भी शिकार है. आज के समय के सबसे सशक्त दलित कथाकार कैलाश वानखेड़े (राजेन्द्र यादव हंस कथा सम्मान प्राप्त) का केवल नाम गिना कर आलोचक भारती आगे बढ़ गए हैं, उनपर कुछ नोट्स नहीं लिए हैं, यह आलेख की भारी कमी है. दो कहानी संग्रहों 'सत्यापन' एवं 'सुलगन' के कथाकार वानखेड़े ने अपनी कहानी कला का लोहा मनवाया है और अब तक के सबसे वजनी 'कलावादी' दलित कहानीकार ठहरते हैं. इसी तरह, सबसे दमदार दलित स्त्री कथाकार सुशीला टाकभौरे की मात्र एक कहानी का जिक्र करने के चलते भी यह आलेख हलका हो जाता है. टाकभौरे के कथा-व्यक्तित्व पर तो करीने से कोई बात आई ही नहीं है. मात्रा के हिसाब से प्रभूत कथा लेखन (6 उपन्यास, 12 कहानी-संग्रह) करने वाले 1965 में जन्मे बिहारी कथाकार विपिन बिहारी और 'लटकी हुई शर्त' फेम के दो संग्रहों वाले कथाकार प्रह्लाद चन्द्र दास को भी केवल उंगली पर गिन लिए जाने सरीखे उल्लेख को पाकर भी लेख की विश्वसनीयता डिगती है. उधर, पटना में रहने वाले बुद्धशरण हंस के कथा विषयक योगदान को पर्याप्त जगह मिलनी चाहिए थी. मैं 'सत्यनारायण कथा' कहानी-संग्रह वाले और मुख्यधारा की कुछ पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहने वाले बुजुर्ग कथाकार देवनारायण पासवान 'देव' का नाम भी आलेख में खोज रहा था.

आलेख में तथ्यों की अन्य अनदेखी न करने लायक गड़बड़ियां भी हैं. भारती 1980 के दशक से दलित कहानी की शुरुआत मानते हैं जबकि बुद्धशरण हंस का कहानी संग्रह 'देव साक्षी है' 1978 में ही प्रकाशित है जो संभवतः किसी हिंदी दलित साहित्यकार का प्रथम कथा-संग्रह है. दयानाथ बटोही की कहानी और भी काफी पहले सन् साठ के दशक में ही छपी थी. वे उन दिनों की मशहूर पत्रिका *सारिका* और *धर्मयुग* में भी सन् अस्सी से पहले ही छपे थे. बटोही जी की पहली कहानी इलाहाबाद से निकलने वाली 'आश्रम संदेश' में सन् 1962 में आई थी. इस लेखे गोया, वे भारत के सबसे पहले प्रकाशित होने वाले हिंदी दलित कथाकार भी ठहरते हैं.

वरिष्ठ कथाकार कावेरी (दयानाथ बटोही की जीवनसंगिनी) और युवा कथाकार पूनम तुषामड़, जिनका एक कहानी-संग्रह प्रकाशित है, के नाम भी आलेख में नहीं गिनाए गए हैं जबकि कावेरी प्रथम पीढ़ी की दलित कथाकार हैं, उनका 'रमिया' नामक उपन्यास किसी स्त्री द्वारा लिखा गया पहला हिंदी दलित उपन्यास ठहरता है. उनके कहानी संग्रह और उपन्यास भी प्रकाशित हैं. तुषामड़ की कहानी 'ठोकर' दलित विशेषांक में ली भी गई है.

मेरे ख्याल से, यदि कथाकारों के रचनात्मक अवदान का एक खाका खींच कर काम किया गया होता और उनके जिक्र में कोई समानुपातिक स्पेस खर्च करने का श्रम किया जाता तो काम संतुलित, बेहतर और बड़ा होता. कदाचित यह हड़बड़ी में लिखा गया आलेख है.

अब विशेषांकों के संपादन एवं अंतर्निहित इतर सामग्रियों पर बात.

हंस सरीखा नीर-क्षीर विवेचन करें तो विशेषांक एवं संपादन की कुछ सीमाएं सहज ही दृष्टिगोचर होती हैं तो कुछ कमियां नजदीक जाकर देखने पर.

हालांकि संपादक की अपनी सीमाएं होती हैं. लेखकों से रचना आमंत्रण और निर्दिष्ट समय में प्राप्ति की भी अपनी तरह की मुश्किलें और पेंच हैं, तथापि यह स्पष्टतः लक्षित है कि इन दोनों विशेषांकों में न तो कोई नाटक/एकांकी, यात्रा वृत्तांत, डायरी, साक्षात्कार, रिपोर्ताज, जैसी विधाओं को प्रतिनिधित्व मिल पाया है न उन पर लिखी किसी समीक्षा को.

मराठी दलित आत्मकथा पर एक स्वतंत्र परिचयात्मक आलेख है, यह महत्वपूर्ण है. मगर हिंदी दलित आत्मकथा पर भी कोई आलेख नहीं ही है. दलित कविता को लेकर भी कोई विमर्शात्मक/समीक्षात्मक आलेख नहीं है. यह चौंकाता है. यह भारी सीमा है विशेषांक की. दलित सौंदर्यशास्त्र को लेकर भी आलेख की दरकार थी, खलती है यह कमी.

विषय सूची में अलग से चिह्नित कर संस्मरण तो नहीं हैं, मगर 'बहिष्कृत भारत' जैसे मानीखेज स्तंभ के अंतर्गत ये उपस्थित हैं. डी. डी. बंसल का संस्मरण (दिसंबर अंक) लघुगात में है, लेकिन है बेजोड़. संस्मरण का शीर्षक 'वसुधैव कुटुंबकम के

उदारमना लोग' जैसे इस आत्मबयानी की बुलंद इमारत का पता देता है. इसी अंक के इसी स्तंभ में उम्मेद गठवाल का 'संघर्ष ही धर्म' नामक संस्मरण दैहिक बीमारी, जाति बीमारी और बीमार समाज पर एक व्यक्ति के अनुभव एवं नजरिए के हवाले से की गई एक अद्‌भुत प्रस्तुति है. इसका प्रांजल-प्रवाहमय गद्य गौतम सान्याल के गद्य-कौशल की याद कराता है.

हिंदी में गजल लिखना अभी वायरल फैशन की तरह है. इस विधा की कुछ कविताओं के जरिये नुमाइंदगी होना अच्छी बात है. जबकि विश्वविद्यालय में दलित विषय से शोध, शोध की स्थिति व राजनीति, पाठ्यक्रम की स्थिति, दलित साहित्य में सवर्ण उपस्थिति/हस्तक्षेप, दलित साहित्यकारों का आपसी वर्णवाद/क्षेत्रवाद और सिरफुटौव्वल जैसे विषयों पर भी सामग्रियां सम्मिलित होतीं तो सोने में सुगंध होता.

कहानी की बात करें तो नवंबर अंक में जहां आठ कहानियां रखी गई हैं वहीं दिसंबर अंक में सात. नवंबर अंक की आठों कहानियां जहां शिल्प और कला के हिसाब से औसत हैं वहीं दिसंबर अंक की कैलाश वानखेड़े की 'चाबी' उत्कृष्ट है. इसी अंक की मलयालम से अनूदित 'पैंथर का शिकार' नामक बेहद छोटी गात की कहानी अपने ट्रीटमेंट एवं प्रभाव में बेजोड़ है. चूंकि यह अनुवाद में है अतः मूल कथा के सुगढ़ कला-शिल्प में होने का अनुमान भर किया जा सकता है.

राजेन्द्र यादव द्वारा स्थापित 'हंस' खास, दलित एवं स्त्री विमर्श को खड़ा करने के लिए जाना जाता है. अतिथि संपादक अजय नावरिया ने दलित स्त्री विमर्श को अच्छी जगह दी है, इससे दलित साहित्य के अंदर के लोकतंत्र को इस मंच से बल मिला है.

और, अपनी टिप्पणी का अंत दोनों विशेष अंकों के अतिथि संपादकीय से करें तो हंस के पाठकों को अगर इन विशेषांकों से ज्यादा कुछ पढ़ने का मौका न भी हो तो कम से कम इनके संपादकीय जरूर पढ़ लें. बल्कि, दूसरे अंक का संपादकीय तो जरूर ही. इस संपादकीय की तो बिहार और इसके इर्दगिर्द भी भारी चर्चा है. इसमें राजेन्द्र यादव की लेखनी (संपादकीय) का अक्स है, जबकि अनुस्यूत विचार भरसक मौलिक और मौजूं हैं. संपादकीय के इस सुनियोजित विचार सरणी के जरिए नावरिया का अपने समय-समाज की चिंता, परख और अध्ययन के फलक का पता चलता है.

❒

संपर्क : प्रकाशन विभाग, बिहार विधान परिषद्, पटना
ईमेल : musafirpatna@gmail.com

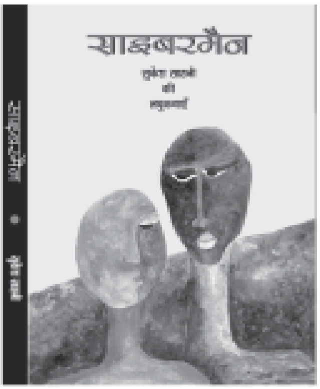

साइबरमैन
प्रसिद्ध कथाकार सुकेश साहनी की चर्चित लघुकथाओं का संग्रह
मूल्य : रु. 250/- पृष्ठ : 120
पाठकों के लिए 200 रुपये में डाक खर्च सहित उपलब्ध
प्रकाशक :
हिन्दी साहित्य निकेतन
16, साहित्य विहार, बिजनौर-246701
फोन : 783809032
ईमेल :
hindisahityaniketan@gmail.com
shodhdisha@gmail.com

पुरु मालव की कविता

दो चट्टानों के बीच

दो चट्टानों के बीच
इंच भर जगह में
जहां थोड़ी मिट्टी है
थोड़ी नमी
एक कोंपल फूट पड़ी है

जहां तक आते-आते
सूखने लगते हैं रास्ते
उगने लगती हैं वहीं से
दिशा-दिशा में पगडंडियां

जहां समुद्र की लहरें
तट के फर्श से
तिनका-तिनका बुहार ले जाती हैं
उसी तट पर खड़े होकर एक टिटहरी
समुद्र को ललकारती है

दिन-रात भागती सड़कों के
कोलाहल के मध्य भी
कहीं किसी पेड़ से
कोयल मधुर तान छेड़ देती है

बम और तोपों से छलनी धरती पर
बच्चे ढूंढ ही लेते हैं
कंचे खेलने भर जगह

❒

संपर्क : कृषि उपज मंडी के पास, अकलेरारोड़, छीपाबड़ौद
जिला-बारां (राजस्थान)
पिन-325221
मो. : 9928426490
ईमेल : purumalav@gmail.com

कहानी

भय के पाश...

•

श्रीधर करुणानिधि

यह इस गांव का आम दृश्य था. हर दरवाजे पर इस सर्द भरी रात में अलाव जला करता था. इसलिए आज भी यह जल रहा था. हर उम्र के लोग अलाव के नजदीक पुवाल के बिड़वे पर बैठकर धुवानी गंध को नाक से सुड़क रहे थे. यह ऐसी जगह थी जहां सच्चे अर्थों में जनतंत्र कायम होता था. किसी को कोई भी बात या कहानी रखने की पूरी छूट थी. गप्पों के गुलछर्रे उड़ाए जा रहे थे. शब्दों के छिलके आसमान में उड़-उड़ जाते धन कुटाई वाली मशीन से निकलने वाले भूसे की तरह. गप्प रोजमर्रे की जिंदगी से शुरू होकर अन्य दिनों की तरह राजनीतिक हो गया था. सरकारी योजनाओं, एपीएल-बीपीएल, अनाज, साइकिल योजना, पोशाक योजना से लेकर इंदिरा आवास योजना आदि ढेर सारे मुद्दे पर बतकुच्चन जारी था. तभी कुहासे को चीरती हुई आई थी आवाज...आवाज भुतहा आवाज की तरह अस्पष्ट नहीं थी. न ही दम घोंटकर मारे जाने वाले किसी व्यक्ति की आवाज की तरह. न किसी भीड़ द्वारा पशु चोरी के कारण पीट-पीटकर मार दिए जाने पर चीखने-चिल्लाने का स्वर. झबराए पेड़-सी रात में अपनी उपस्थिति का दस्तक देती किसी चिड़ैया की मनहूस आवाज से भी यह बिलकुल ही भिन्न थी. इस आवाज से इस इलाके के लोग परिचित नहीं हों ऐसा नहीं था. खुशनुमा सुबह, सूरजमुखी की तरह खिली दोपहरी या तार के पेड़ों की लंबी छायाओं वाली शामों और दहशत की भुतखेलों वाली घनघोर अंधेरी रातों में जब अपनी उपस्थिति, अनुपस्थिति से भारी पड़ती तब ये आवाजें यदा कदा हो जाया करती थीं. अंधेरे-उजाले, घनी बस्ती के बीच या वीराने में किसी भी घड़ी ऐसी आवाजें हो जाया करतीं और लोगों का स्वर नरम पड़ जाता. बातचीत का तरीका बदल जाया करता. लोग फुसफुसाहट के अंदाज में बातें करने लगते. ऐसी फुसफुसाहटों एवं इशारों के बीच कुछ भी समझ पाना आसान नहीं होता.

वैसे तो और भी बहुत कुछ समझ पाना आसान नहीं होता. जैसे कुहासे भरी रातों में सामने से आते हुए आदमी के बारे में समझ पाना. कद-काठी, चाल-ढाल देखकर भी. आदमी को कभी-कभी पहचान भी लिया जाए पर उसका मकसद समझ पाना बहुत मुश्किल होता...फिर आवाज का क्या?

जन्म : कलकता
शिक्षा : एम.ए. (हिंदी), पी.एच.डी., बी.एड.
कृतियां : किसे पुकारूं?', 'मोड़ पर', अबके बिछड़े ना मिले' (कहानी संग्रह)
अनेक पुस्तकों का गुजराती व हिंदी अनुवाद प्रकाशित.

संपर्क : द्वारा श्रीमती इंदु शुक्ला, आलमगंज चौकी, पोस्ट-गुलजारबाग, पटना-800007
मो. : 9709719758, 7004945858
ईमेल : shreedhar0080@gmail.com

जब यह आवाज आई उस समय रात में बस्ती के कई घरों की औरतें चावल का भक्का बनाने में व्यस्त थीं. उनके भाप निकलते बर्तन पर पीसे हुए चावल में गुड़ मिला हुआ भक्का रखा हुआ था. कहते हैं कि भक्का हिल सा गया था. औरतें यह नहीं समझ पा रही थीं कि यह भक्का भाप के जोर मारने से हिल रहा था या इस आवाज के कंपन से. एक बात और थी जो संदेह को संघनित कर रही थीं कि दो-तीन घरों में मीठी नींद सोए हुए बच्चे नींद से जागकर रोने लगे थे. वे बिछौने को गीला करके चहे, चहे कर रो रहे थे...

आवाज को लेकर कई भ्रांतियां फैल रही थीं. सबसे बड़ी भ्रांति आवाज की दूरी को लेकर थी. यह भ्रांति उसी तरह की थी, कि जब इस गांव से दूर किसी गांव में चैत-बैशाख के महीने घरों में आग लगती थी तो गांव वाले लाल-लाल दहकते आसमान को देखकर अनुमान लगाते कि यह आग फलां गांव में लगी होगी. लेकिन वे जब सुबह नींद से जगते और सड़क से गुजरने वाले मुसाफिरों से पूछते कि रात में आग कहां लगी थी, तो उन्हें यह जानकर तसल्ली होती कि आग यहां से बहुत-बहुत दूर लगी थी उनके अनुमान से कई गुना दूर...तब उनकी दहशत भी उसी आग में राख हुए घरों के मलवे के साथ ही बुझ जाती इस तसल्ली के साथ कि खतरा बहुत दूर था और वहां यह मनोविज्ञान काम करता कि दूर चाहे कुछ भी हो हमें क्या?

आज रात होने वाली आवाज के बारे में ठीक-ठीक कह देना मुश्किल था कि यह कितनी दूर से आई थी. एक बात तो लगभग स्पष्ट हो चुकी थी कि यह आवाज किस चीज की है. यह जान लेने के बाद अलाव के निकट बैठे कितने बूढ़ों के शकरकंद अलाव में जलकर राख हो चुके थे. कितनी औरतों के भक्के जरूरत से ज्यादा पक चुके थे. कितने नौजवानों के होश-हवास गुम हो चुके थे. कितने ही पेड़ों की छायाओं के सन्नाटे और बढ़ रहे थे. कितनी ही भुतहा कहानियों की सफेदपोश आत्माएं आस-पास शिरकत करती लग रही थीं.

जानकार लोग यह स्पष्ट रूप से कह चुके थे कि यह आवाज पटाखे की नहीं है. पटाखे की आवाज और बंदूक की आवाज के बुनियादी अंतर को बूढ़े और बच्चे बड़े गौर से सुन रहे थे. जानकार लोगों को अपनी जानकारी की धाक जमाने का इससे अच्छा मौका नहीं मिल सकता था. बच्चों को इतने चाव से सुनते हुए या तो कभी नहीं देखा गया था या देखा गया था तो भुतहा या परियों की कहानियों में. छोटी-मोटी डकैतियों में शामिल होने वाला गनेशी तो दो किलो रसगुल्ले की बाजी लगाने को तैयार था. उसके अनुसार पटाखे की आवाज चारों ओर फैल जाती है, जबकि बंदूक की आवाज फैलती नहीं. इस आधार पर वह दावे के साथ कह रहा था कि आवाज बंदूक या देशी कट्टे की ही है.

यूं तो आवाजें अक्सर सुनी जाती थीं, लेकिन जिस ओर से आवाज आई थी यह लोगों में आशंका पैदा कर रही थी. गांव के पश्चिमी सीवान पर एक पुराने जीर्ण-शीर्ण शिव मंदिर के करीब से आई थी ये आवाज. उस जगह की आबादी बहुत सघन नहीं थी. कुछेक घर थे, जो गांव के सबसे गरीब लोगों के थे. उधर शांति थी. वहां गांव के जाति आधारित झगड़े नहीं होते थे. उस ओर जंगल कुछ ज्यादा था. यद्यपि इसे जंगल कहना मुश्किल था, लेकिन दूसरे उपयुक्त नाम के अभाव में उसे जंगल भी कहा जा सकता था. जंगल क्या डर पैदा कर सकता है? नहीं न! लेकिन शिव मंदिर के पास एक बहुत पुराना कुआं था. यद्यपि कुआं भी डर पैदा नहीं कर सकता परंतु यह कुएं का दुर्भाग्य था कि वह वर्षों तक लोगों में डर पैदा करता रहा. बच्चे तो इससे अभी तक डरते थे. इस डर को पैदा करने में गांव की बूढ़ी औरतों का हाथ कहीं न कहीं अवश्य था. यह कुआं अब जनश्रुति में रच-बस चुका था. आज की आवाज में इस कुएं का कितना हाथ था यह मालूम नहीं था. कुएं से भी किसी जमाने में आवाजें आती थीं, लेकिन ये आवाजें दूसरी तरह की थीं. यह अंतर उनको सबसे अच्छी तरह मालूम था, जो इसके गवाह थे. गांव की बूढ़ी औरतें बार-बार सुनाते-सुनाते इस आवाज का बखान करने में माहिर हो चुकी थीं. ढम्म...ढिब्ब ...छपाक...उनके अनुसार इससे कुछ गिरने की आवाज आती थी. जैसे कोई बड़ा-सा पत्थर उसमें डाल दिया गया हो. लेकिन अचरज की बात तो यह थी कि यह इलाका पथरीला नहीं था और पत्थर यहां नहीं होते थे. इस कुएं के पानी का प्रयोग शिव लिंग पर जल चढ़ाने के लिए किया जाता था. लेकिन बीच में एक ऐसी घटना हुई जिसके बाद से लोगों ने इस कुएं से पानी भरना बंद कर दिया था. यह घटना उन्हीं दिनों हुई थी जब पूरे देश में गणेश की मूर्तियों ने दूध पीना शुरू कर दिया था. इस शिव मंदिर की छोटी संगमरमर की गणेश की मूर्ति ने छककर दूध का पान किया. दूध की धारा और नाले का गंदला पानी मिलकर न जाने किसी चमत्कार से या चूहों की कृपा से उस कुएं के पानी को दूधिया बना रहे थे.

कुएं के पास से जंगल शुरू होता था. कुएं की उत्तर दिशा में पांच-छह बीघे खेत में आम के बड़े-बड़े गाछ थे और बगीचा खत्म होते ही बांस का जंगल शुरू हो जाता था. जंगल उतना घना नहीं था. लेकिन जंगल में प्रवेश करते ही एक अजीब-सी उदासी घेर लेती थी. वहां लाशें जलाई जाती थीं. एक अज्ञात भय से लोग ग्रस्त हो जाते. इस ओर आने से डरते थे. इस इलाके में रहने वाले भूतों के बारे में अफवाह फैलाने में बूढ़े गंजेड़ी नारायण लाल का हाथ सबसे अधिक था. यद्यपि गांव के हर अनुभवी व्यक्ति के पास इस इलाके के भूतों की कोई न कोई कहानी अवश्य थी. लेकिन नारायण लाल इस मामले का पक्का खिलाड़ी था. वह लोगों की नस-नस को जानता था. वह जानता था कि कथा में कितना और कैसे रस डालना है. वह देखता कि उसकी भुतहा कहानी से बच्चे डरने लगे हैं तो वह कहता

कि भूत तो सिर्फ भ्रम है. इस बात को साबित करने के लिए वह एक कहानी सुनाता....एक युवक ने कहा कि भूत नहीं होता. उसके दोस्त ने उसे कुएं के पास की बंसबिट्टी में रहने वाले गुलो राम के भुतहा शरा से लौट आने को कहा. वह युवक उत्साह में बोल तो गया लेकिन सच बात तो यह थी कि वह भी भ्रम का शिकार था. वादे के अनुसार युवक को बारह बजे रात में गूलो राम की लाश को जहां जलाया गया था उस शरे पर झण्डा गाड़ना था. कड़ाके की सर्दी थी. एक तो अंधेरा था ऊपर से कुहासे के कारण बहुत कम दूरी तक देखा जा सकता था. युवक ने टॉर्च जलाई और हिम्मत बांध कर चलता चला गया. उसने देखा कि सामने बंसबिट्टी के झड़े हुए सूखे पत्तों के बीच गूलो का शरा मिट्टी से ढका हुआ है, उस पर तुलसी का एक स्वस्थ पौधा लहलहा रहा है. उसने लाल झंडे को तुलसी के गाछ के बगल में गाड़ दिया और विजयी मुद्रा में वापस लौटने के लिए मुड़ा. संयोग से उसकी चादर बांस की करची में फंस गई. उसे लगा कि गूलो राम के भूत ने उसकी चादर पकड़ ली है. यह सोचते ही वह धड़ाम से गिर पड़ा और वहीं ढेर हो गया.

इस घटना का वास्तविकता से कितना संबंध है, यह कोई नहीं जानता. अगर यह घटना सचमुच घटी होगी तो उस युवक के चिल्लाकर गिरने की आवाज भी इस गांव तक पहुंची होगी.

कुएं के पास से शुरू होने वाले जंगल के करीब एक ही घर था. वह घर एक बुढ़िया का था, लोग उसे देवली नाम से पुकारते थे. ठीक उसी के घर के बगल से एक सड़क गई थी. सड़क के उस पार कुछ परिवार बसे हुए थे. देवली बुढ़िया के बारे में बहुत से कहे-अनकहे किस्से प्रचलित थे. सब किस्सों का सार एक ही था और वह यह कि बुढ़िया डायन थी. देवली के पास ढेर सारी बकरियां थीं. वह सुबह उठती और अपनी बकरियों को जंगल में छोड़ देती. लोग कहते हैं कि एक-एक बकरी एक पतले धागे से बंधी होती थी, जिसे कोई नहीं देख पाता था. तभी तो उसकी बकरियां कभी भटक कर खोती नहीं थी. लोगों का अनुमान था कि देवली बहुत अमीर है. लेकिन उसके वस्त्र और घर को देखकर कोई नहीं कह सकता था. वह शायद ही किसी से बात करती थी. वह बात करती तो उन बकरियों से ही. उन्हें ही अपना सुख-दुख बांटती थी. गांव में जितने लोग अकाल मौत मरते, उसका आरोप देवली पर लगता. लेकिन कोई उसे कुछ कहने का साहस नहीं कर पाता था. लोगों का मानना था कि बुढ़िया को कहीं जाना होता तो वह रात में गाछ की सवारी करती थी. कुएं के बगल में बड़े से आम के पेड़ को उड़ाकर कहीं से कहीं पहुंच जाती. लेकिन आज तक किसी भी गाछ को जड़ से उखड़ा हुआ नहीं पाया गया.

रात और घनी होती जा रही थी. पेड़ की शाखों पर किसी स्थायी निवासी की तरह उल्लू की आवाज रात के सघन अंधेरे को आरी की तरह चीरने लगी थी. इसी तरह परिश्रम करके रात को दो फांक कर दिया गया और सवेरा रात के कटे हुए एक भाग से आवाज के भय के साथ धीरे-धीरे प्रकट हुआ.

देवली के बारे में बूढ़े बुजुर्ग बताते हैं कि वह अपनी शक्ति से लोगों को मार देती थी और उसकी आत्मा को उसी कुएं में कैद कर लेती थी. कुएं से बाहर आने के लिए आत्माएं छटपटाती रहतीं. लोग कहते हैं कि रात के अंधेरे में उस कुएं से तरह-तरह की आवाजें आती रहती थीं. कभी-कभी तो लगता था कि देवली उन आत्माओं को शांत करने के लिए गुस्से में आकर बड़े-बड़े पत्थर फेंका करती है. भुशुंडी राम कहता है कि उसने कुएं में पत्थर के गिरने की आवाजें कई बार सुनी है.

इतना सब कुछ होने के बाद भी लोग उस कुएं से पानी भरते थे और शिव मंदिर में स्थापित लिंग पर चढ़ाते थे. रात का सारा भय दिन में रफूचक्कर हो जाता. दिन के समय कुएं और मंदिर के पास लोगों का जमघट लगा रहता. दिन में किसी के चिल्लाने और पत्थर के गिरने की आवाज किसी ने नहीं सुनी. गांव के सबसे बड़े ओझा रामचन्दर ने भी नहीं. लेकिन एक घटना के बाद लोग वहां दिन में भी जाने से डरने लगे.

घटना यों हुई कि गांव की एक औरत पानी भरने कुएं पर पहुंची. कुएं के अन्दर बिना झांके उसने पानी भर लिया. लेकिन पानी का रंग कुछ अटपटा सा लगा. पानी लाल लग रहा था. उस औरत ने कुएं में झांक कर देखा तो उसकी चीख निकल पड़ी. कुएं में देवली की लाश पड़ी थी. उसका गला रेत दिया गया था. देवली बुढ़िया कैसे मरी, किसने उसकी हत्या की, उसके द्वारा पाले गए भूतों ने या किसी आदमी ने यह आज तक कोई नहीं जान पाया. बुढ़िया एक कहानी की तरह थी, जो हर आदमी के जुबान पर चढ़ी थी. उसकी बकरियां कहां गुम हो गईं कोई नहीं जानता. लोग कहते हैं वो बकरियां ही आत्माएं थीं जिसे देवली ने मारा था. लेकिन उसके पाठों-खस्सियों की हड्डियां चबाने वालों की भी कमी नहीं थी. देवली के मरने के बाद पत्थर के गिरने की आवाजें नहीं सुनाई पड़तीं. अब आवाज का रूप बदल गया है. इस गांव में जब लोग जगे रहते हैं, जब खेतों में फसल काट रहे होते हैं, जब हंसी-ठिठोली कर रहे होते हैं और जब पूरा गांव नींद में डूबा रहता है, ठीक एक शराबी की तरह, तब भी आती हैं आवाजें. हां! लेकिन पत्थर की नहीं. उस देवली बुढ़िया के द्वारा नहीं आती हैं आवाजें.

हालांकि आज की आवाज के बारे में लोगों को भ्रम नहीं रहा था, लेकिन अचरज की बात उसकी दिशा को लेकर थी. आवाज उसी कुएं के निकट से आई थी यह बात अभी-अभी स्पष्ट हुई थी. यह खबर शैलेन्द्र सिंह ने दी थी. सिंह जी हकला रहे थे, जिससे लोगों से यह बात छिपी नहीं कि बात कुछ गंभीर है. वो पूरी बात बता नहीं

रहे थे और बार-बार पूछ रहे थे कि मुखिया जी कहां हैं. मुखिया जी के दरवाजे पर भी बड़ा सा अलाव लगा था. बहुत सारे लोग आग ताप रहे थे. हालांकि वो लोग आग कम ताप रहे थे, एक दूसरे का भेद ज्यादा ले रहे थे.

मुखिया जी भोज खाने के लिए किसी दूसरे गांव गए हुए थे. उधर सिंह जी से लोग बार-बार पूछ रहे थे कि आखिर बात क्या है? सिंह जी के पेट में बात औंट-पौंट कर रही थी. अंततः उसने बात सबके सामने में कह दी. उनकी हकलाती बातों से इतना ही स्पष्ट हो सका कि किसी ने एक आदमी को उसी कुएं के पास वाली सड़क पर गोली मार दी है और वह आदमी मरा नहीं है, खून से तरबतर होकर सड़क पर घिसट रहा है.

लोगों में खलबली मच गई. कुछ लोगों ने शैलेन्द्र सिंह को बुरा भला कहा कि जब उसने देखा कि वह घिसट रहा है और जिन्दा है, तो उसे उठाकर क्यों नहीं ले जाए. किसी ने कहा कि ठीक किया इन्होंने पुलिस के चक्कर में फंस जाते नहीं तो, क्या पता वह मर ही जाए.

सिंह जी की बात से एक चीज और स्पष्ट होकर आई थी कि ओझा रामचन्दर ने भी उस आदमी को घिसटते देखा था. सिंह जी रामचन्दर के पास गए थे अपने बेटे के लिए जंतर लेने. जैसे ही जंतर लेकर सड़क पर आए तभी हुई थी यह आवाज. सिंह जी का कान हिल गया था. उसने देखा कि आग की लुत्ती उड़ी और आकर उस आदमी के पेट में घुस गई लेकिन मारने वाले आदमी को न रामचन्दर ओझा देख सके और न शैलेन्द्र सिंह. उन्होंने सिर्फ फट-फट करते हुए चप्पल की आवाज सुनी. जैसे लगा कि कोई आदमी चप्पल पहनकर दौड़ रहा हो. आवाज बंसबिट्टी में जाकर गुम हो गई.

यह बात अब धीरे-धीरे गांव के हर दरवाजे पर जलने वाले अलाव के निकट न सिर्फ पहुंच गई बल्कि अलाव के धुएं में रहते-रहते पकने भी लगी थी. हर कोई मान बैठा था कि वह आदमी मर गया होगा और कल सुबह जब पुलिस की जीप रास्ते को चीरती, धूल-गर्द उड़ाती हुई आएगी तो शैलेन्द्र सिंह के साथ रामचन्दर ओझा चले जाएंगे भीतर.

तभी हल्ला हुआ कि मुखिया जी आ गए हैं. मोटरसाइकिल की आवाज मुखिया जी के दरवाजे पर जाकर थम गई. तुरंत चमचमाती टॉर्चो के साथ एक जत्था खेतों की मेड़ों से होते हुए उधर ही चल पड़ा जिधर से आवाज आई थी और जहां सिंह जी के अनुसार एक आदमी बीच सड़क पर तड़प रहा था.

सड़क के दोनों ओर बांस की बीटें थी. सड़क के बगल में दोनों तरफ गड्ढा भी था. लोग तो निश्चिंत थे कि वो आदमी जो सड़क पर घिसट रहा था, जिसके पेट में आग का गोला घुस गया था, वो अब लाश में तब्दील हो चुका होगा. सड़क की धूल में सना, आंख तिरगां कर औंधा पड़ा होगा.

चमचमाती टॉर्चों के बीच एक चेहरा बार-बार दिखाई पड़ता था और वह था शैलेन्द्र सिंह का जो इस घटना का चश्मदीद गवाह था. हालांकि पचास की उम्र पार कर जाने के बाद भी उनकी आंखों को चश्मे की जरूरत महसूस नहीं हुई थी. इसलिए उनके द्वारा देखी गई घटना को कोई भ्रम नहीं कह सकता था. लोगों ने देखा कि सड़क पर खून के धब्बे तो हैं, लेकिन उस आदमी का कहीं कोई अता-पता नहीं है. गोली की आवाज हुए घंटों गुजर गए. इस बीच वह आदमी, जो अत्यंत घायल अवस्था में था घिसटते हुए भी ज्यादा दूरी तय नहीं कर पाता. तो आखिर उसका हुआ क्या? हर आदमी के जुबान पर यही प्रश्न था.

इस सुनसान जगह पर रात के अंधेरे में, इस भीषण सितलहरी के बाबजूद कुछ लोग जिसको ढूंढ रहे थे उसका क्या हश्र हुआ यह किसी को मालूम नहीं था. और बहुत सारी ऐसी बातें थीं जो अनसुलझी थीं, जिनके बारे में किसी को कुछ मालूम नहीं था. आगे क्या होगा, किस पर गाज गिरेगी, यह कोई नहीं जानता था.

पूरे गांव में एक अजीब-सा सन्नाटा पसर गया था. सब लोग आशंकित थे. उनकी आशंका का आधार कमजोर नहीं था. अभी दो महीने पहले बल्ली साह के खेत में लावारिस लाश मिली थी. मौके पर पुलिस ने पहुंचकर उसे पकड़ लिया था. गांव का कोई भी आदमी इस बात पर विश्वास नहीं करता है कि बल्ली साह ने ऐसा किया होगा. जो आदमी भर-मुंह किसी से बात नहीं करता, वह खून क्या करेगा. खून करेगा भी तो अपनी जमीन में लाश क्यों फेंकेगा.

सभी लोग अपने-अपने घर के पिछवाड़े जाकर जंगल-झाड़ सब जगह खोज-खोजकर देख रहे थे. हर आदमी का कोई न कोई दुश्मन था और यह दुश्मनी और अविश्वास का माहौल पंचायत चुनावों के बाद चैत-बैशाख में पछुवा हवा में लगने वाली आग की तरह फैल रहा था. इस अगिया झकोर आंधी में कोई नहीं जानता था जिसने उस आदमी को गोली मारी है वह क्या चाहता है? हर आदमी के अंदर भय था. उस भय को बढ़ाने में रात का हाथ था. उस घनघोर अंधेरे का हाथ था, जिसने चांद को निगल लिया था. आवाज का हाथ भी कुछ कम नहीं था इस भय के पीछे और अंत में हर बार की तरह आज भी छिपे रूप में कुआं भी इसमें आकर शामिल हो गया था. हालांकि देवली बुढ़िया के मर जाने के बाद कुएं की इतनी हिम्मत नहीं थी कि वो लोगों में भय पैदा कर सके.

भय कहीं नहीं था तो वह जगह थी जंगल. खेतों में खड़ी फसलें डर नहीं रही थीं, वह थरथरा रही थी, तो इसका कारण थी बर्फीली पछुवा हवा. सुनसान जगहों पर भय ने घर बनाना मुनासिब नहीं समझा था, इसलिए वह गांव में घुस आया था. लोगों में इतनी हिम्मत नहीं थी कि डर को भगा सके. क्योंकि डर के पास थी आवाज... जाहिर-सी बात थी कि वह आवाज पटाखे की फैलने वाली आवाज नहीं थी. वह आवाज कुछ और चीज की थी और उस कुछ को हर

कोई जानने लगा था...

रात और घनी होती जा रही थी. पेड़ की शाखों पर किसी स्थायी निवासी की तरह उल्लू की आवाज रात के सघन अंधेरे को आरी की तरह चीरने लगी थी. इसी तरह परिश्रम करके रात को दो फांक कर दिया गया और सवेरा रात के कटे हुए एक भाग से आवाज के भय के साथ धीरे-धीरे प्रकट हुआ.

पुलिस के पास आवाज नहीं पहुंची थी. हमेशा की तरह वहां कोई आवाज नहीं पहुंच पाती थी. वहां उसके मुखबिर और दलाल पहुंच चुके थे. "हुजूर हत्या का मामला है." "हैंय हत्या?"

"कौन? किसको, कहां, हुजूर पता नै कौन किसको...पर हुजूर वहां...कुआं के पास बालू और मिट्टी वाली सड़क पर खून के कुछ दाग...और कुछ नहीं हुजूर..देखा जाए...चला जाए..."

दिन के उजाले में सूरज खूब फल-फूल रहा था और दूर-दूर तक फसलें और हरियाली के दृश्य तैर रहे थे और आवाज के साथ डर को छिपाने की कहीं कोई जगह नहीं थी. लेकिन अभी भी रात की उस आवाज से घायल व्यक्ति जो खून से लथपथ होकर घिसट रहा था कहीं गायब था. कहां था वह? किसके खेत में वह मुर्दे की तरह गड़ा था? किस आदमी पर गाज गिरने वाली थी? हत्यारा क्या चाहता था? क्या जिसकी हत्या हुई या जिसे गोली लगी वह अचानक किसी बिजूके में तो नहीं बदल गया? बिजूके से चिड़ैय-चुनमुन के अलावा कोई नहीं डरता था. उनकी तरेरी हुई खतरनाक आंखों के बावजूद. और यह भी सब जानते हैं कि उसकी देह में कालिख लगी होती थी, खून नहीं. कहीं ऐसा तो नहीं कि आज डर फिर रात का इंतजार कर रहा था फैल जाने के लिए.

दिन ने अफवाहों को फैलने का पूरा मौका दिया था. दिन के उजाले में गुनगुनी धूप के बीच गांव भर में उस आवाज और उस खून से लथपथ आदमी के किस्से घूमते

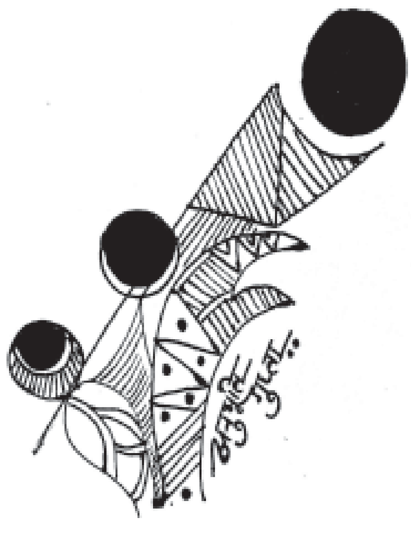

रहे किसी बवंडर की धूल में उड़ती पन्नियों की तरह...यहां से वहां...वहां से यहां. बिना थके बिना रुके.

दिन भर किस्से घूमते हुए अलाव के पास जब पहुंचे तब किस्सों से किस्से जुड़ने लगे. कुछ लोग यह मानने लगे थे यह राजनीति के तहत हत्या का मामला हो सकता है. हो सकता है चुनाव में पूर्व में हारे हुए मुखिया की कारस्तानी हो. वह बदमाश है. रायफल रखता है. बात बात में अपनी मूंछों पर ताव देता रहता है. बिगड़ैल युवकों की मंडली बना रखी है. शराब का बेचैन पियक्कड़ है. लेकिन सवाल यह उठ जाता कि उसने आखिर मारा किसको और क्यों? लोगों को लगने लगा था कि शैलेन्द्र सिंह और ओझा रामचंदर के बीच ही कुछ कड़ी टूटी हुई है. शैलेन्द्र सिंह की हकलाहट में कुछ तो जरूर छिपा हुआ है जो दांत और जिह्वा के बीच अटके हुए शब्द की तरह पड़ा रह गया है. कहीं ओझा रामचंदर की जड़ी में उस आवाज का भय पड़ा तो नहीं रह गया कहीं...और उसने चांदी की डिबिया में उसे बंद कर दिया हो...किसी गले ताबीज की तरह लटका दिया हो...

आज जब अलाव के नजदीक धुवानी गंध को सुड़कती मंडली जमी थी तब पहले से ही सब लोग सिर्फ फुसफुसाहटों में बात कर रहे थे जैसा अक्सर आवाज के बाद होता था. गोली की आवाज सुनाई पड़ने के बाद सब का स्वर नरम पड़ जाता था. आज यह पहले ही था. तो उसी खुसुर-फुसुर और फुसफुसाहट के बीच यह बात सामने आई कि कोई न कोई तो होगा जो घर से गायब हो गया हो. अगर अचानक गायब हो जाने वाले का नाम पता चल जाए तो यह पता करना मुश्किल नहीं होगा कि उसके साथ क्या हुआ. शैलेन्द्र सिंह एकदम चुप हो गए थे. पुलिस की छानबीन में उन्होंने बस इतना बताया कि एक आग का गोला निकला और एक आदमी गिर गया और उसे घिसटते हुए देखा. फिर डरकर भाग गया. ओझा रामचंदर भी बस इतना ही बता रहे थे कि शैलेन्द्र जड़ी लेने आया था और जैसे ही बथान से सड़क पर आया आवाज हुई. हां, चप्पल के फटर-फटर की आवाज सुनी और वह आवाज बंसबिट्टी में जाकर गुम हो गई. बस! हां बस, और किसी के पास और कोई जानकारी नहीं थी. पर सभी परेशान थे. सभी बेचैन थे. मुखिया जी भी. उनके दरवाजे पर आज बहुत आवाजाही थी. अलाव का आकार और बढ़ गया था. ठंडी हवा ने और भी सनसनाहट भर दी थी. उल्लू की रात को चीरती आवाज अभी नहीं आ रही थी. सबको पता था कि रात के दूसरे या तीसरे पहर वो अपनी आवाज की आरी चलाएगा. गांव के हर दरवाजे पर मशविरा जारी था. शैलेन्द्र सिंह और खामोश होते जा रहे थे. मुखिया जी के सामने बैठे वे पस्त दिख रहे थे जैसे उस घिसटते आदमी को देखकर उन्होंने गुनाह कर दिया हो. यद्यपि गुनाह तो किसी और ने किया था. वह न जाने किस पोखर की तलहटी में बैठ गया था...किस नदी के भीतरी तल में डेरा डाले इंतजार कर रहा था.

कुहासे की एक नई खेप पश्चिम से मोटे तहदार बादल की तरह चली आ रही थी. बिना किसी सूचना के. कुत्ते पागल होकर भोंके जा रहे थे...आवाज का डर सबके मन में गहरे दुबककर बैठ गया था. इस इंतजार में कि कुछ देर के बाद उल्लू की आवाज रात के सीने पर आरी चलाएगी...

❒

सिनेमा

प्रकृति बनाम मनुष्य

मिहिर पंड्या

आराम नगर

हमारी वर्तमान शहरी सभ्यता ने प्रकृति से अपना संबंध बहुत योजनाबद्ध तरीके से खत्म कर लिया है. आधुनिक जीवनशैली में प्रकृति के साहचर्य का इतना अभाव है कि प्राकृतिक पर्यवास के शहर की चारदीवारी में प्रवेश की एक भी घटना शहरी नागरिक के मन में भय की स्थापना का कारण बन जाती है. लेकिन इसके पीछे यह तथ्य बिल्कुल अनदेखा हो चुका है कि अंततः इंसानी प्रजाति का अपने पर्यावरण के बिना एक पल भी अस्तित्व असंभव है. और जब तक इंसान इस पृथ्वी से बाहर कहीं इंसानी आवास बनाने की विज्ञान फंतासी को सच्चाई में नहीं बदल लेता, उसके द्वारा प्रकृति को बचाने के लिए किया गया हर प्रयास दरअसल स्वयं के अस्तित्व की रक्षा के लिए किया गया प्रयास है. यह उसे तय करना है कि वो इस प्रकृति से कटे एकतरफा विकास की सरल रेखा को रोककर वर्तमान शहरी आधुनिकता का ज्यादा टिकाऊ विकल्प तलाश करना चाहेगा, या इसी अंधी दौड़ में भागता रहना चाहेगा.

आज जब एक आंखों से दिखाई भी ना देने वाले विषाणु ने पूरी आधुनिक दुनिया के विकास का चक्का रोककर रख दिया है, हमें ठहरकर सोचना चाहिए कि प्रकृति से कटे और संसाधनों के दोहन पर आधारित जिस 'विकास' को हम अपना अंतिम लक्ष्य मान चुके हैं, उस रास्ते की मंजिल आखिर कहां है. कहते हैं, मृत्यु के भय से बड़ा और कोई भय नहीं होता. पर यह भी सच है कि आज अपने-अपने शहरी अकेलेपन में घिरी समूची मानवजाति को इस साझा मृत्युभय ने आपस में जोड़ दिया, एकाकार कर दिया है.

निर्देशक अमित दत्ता की फिल्म 'आदमी की औरत तथा अन्य कहानियां' समकालीन शहर और प्रकृति के टूटते संबंध को एक लघुकथा के माध्यम से बखूबी प्रस्तुत करती है. फिल्म तीन हिस्सों में बंटी है और यहां इसकी पहली कथा 'पेड़ पर कमरा' हमारे विमर्श के केंद्र में है. यह फिल्म अंश हिंदी लेखक विनोद कुमार शुक्ल की इसी शीर्षक से लिखी गई कहानी पर आधारित है. यह कथा शहरी मनुष्य के प्रकृति से टूटते संबंध की कथा है और दिखाती है कि कैसे वर्तमान समय का शहरी जीवन प्रकृति के किसी भी स्पर्श से इतना दूर है कि प्रकृति का सहज साहचर्य भी मनुष्य के लिए एक असामान्य अनुभव में बदल जाता है.

अमित दत्ता अपनी कथा को चाक्षुष माध्यम से कहना पसंद करते हैं. विरल संवादों से बनी उनकी सिनेमाई शैली कथा के फिल्मांकन में बहुत ही ठहरा हुआ दृष्टिकोण अपनाती है और इसके चलते हर दृष्यबंध में गहरा अर्थ भरने लगता है. कथा के केंद्र में एक नवयुवक है, जिसने एक जंगल से सटे बहुमंजिला मकान में सबसे ऊपर का कमरा किराए पर लिया है. लेकिन उसके कमरे की बनावट ऐसी है कि साथ लगे बड़े से पेड़ की डाली उसके कमरे की खिड़की से बिल्कुल नजदीक होकर गुजरती है. शुरुआत से ही उसके कमरे में अन्य किरदारों के रूप में चूहे, गिलहरियां तथा अन्य पशु पक्षी आते रहते हैं. सोते हुए कबूतर उसके ऊपर आकर बैठ जाते हैं. वह अपने निजी कमरे में इस निरंतर होती घुसपैठ से परेशान है. जाकर अपने मकान मालिक से शिकायत करता है,

किराएदार : जी मैं चाहता हूं कि कल मेरे कमरे की खिड़की में पलड़ा लग जाए.

मकान मालिक : कोई खास बात है?

किराएदार : खास बात तो नहीं है. पेड़ की वजह से चील कौवे कमरे के अंदर घुस आते हैं. बाकी सब ठीक है.

मकान मालिक : अब आप भी तो पेड़ पर रहने गए हैं. खैर, एक काम करिए. दो आड़ी लकड़ियां लेकर खिड़की पर लगा दीजिए. या फिर, एक हांडी के ऊपर आदमी का चेहरा रंगकर टांग दीजिए. जब आप घर में नहीं होंगे तो पक्षियों को लगेगा कि कोई है. और वो घर में नहीं आएंगे. चील-कौवों से डरते हैं आप?

किराएदार : जी नहीं. पेड़ की शाखा खिड़की से लगी है. उसी से दिक्कत होती है. परसों एक गिरगिट कमरे में घुस आया. लाल रंग का उसका चेहरा था. मैं किताब उठाने लगा तो भाग गया. मेरी दो उंगलियों से छू गया. सुना है बहुत जहरीला होता है.

मकान मालिक : दिखलाइए. (किराएदार का हाथ देखकर) ठीक है, कल लग जाएंगे पलड़े. आज भर सावधानी से रह लें आप.

किराएदार : जी पलड़े मत लगवाइए. लोहे के शिकंजे लगवा दीजिए. सींखचा. चील कौवे अंदर नहीं आएंगे. खिड़की बार बार खोलने बंद करने का झंझट नहीं होगा.

मकान मालिक : देखिए, अभी घर में कहीं लकड़ी का तख्ता पड़ा होगा. पहले पलड़ा लगवा देते हैं. बाद में सींखचा भी लगवा देंगे.

किराएदार : क्या पहले सींखचे नहीं लग सकते? पलड़ा बाद में लगवा देते.

मकान मालिक : आप भी अजीब आदमी हैं. गिरगिट से तो आपको डर लगता है. सींखचों के रास्ते सांप अंदर आ सकता है. क्या पेड़ पर सांप नहीं रहते?

यहां कमरे से लगी पेड़ की शाखा प्रकृति के और कमरा मनुष्य की शहरी रिहाइश का प्रतीक बन जाता है. कमरे में रहने वाला इंसान उस शहरी मनुष्य का प्रतिनिधि है जिसको प्रकृति का सहज स्पर्श अपने निजी स्पेस में घुसपैठ जैसा लगता है और इस प्रक्रिया में वह प्राकृतिक विकासक्रम का मूल तथ्य बिल्कुल भूल गया है कि जिसे उसने स्वयं का निजी स्पेस, अपना 'घर' माना और जाना है, वही स्पेस दरअसल और बहुत सारे प्राकृतिक जीवों और तमाम तरह के पेड़-पौधों का भी घर है. वह स्वयं के रिहाइशी स्पेस को प्रकृति से अलग करना चाहता है और यहां लकड़ी का पलड़ा और लोहे का जंगला उस नवीन शहरी स्थापत्य के प्रतीक बन जाते हैं जिनके मध्य प्रकृति का या उसके अन्य किसी भी उपादान के लिए कोई जगह नहीं.

यहां यह भी स्पष्ट है कि किराएदार, जो शहर का निवासी है और उसके लिए प्रकृति का यह साहचर्य बिल्कुल नया अनुभव है, ज्यादा उन बातों से घबराया हुआ है जो उसने सिर्फ 'सुनी' हैं. जैसे गिरगिट का जहरीला और इसलिए 'खतरनाक होना'. यह आधुनिक शहरी जीवनानुभव के अभ्यस्त व्यक्ति के मन में प्रकृति के अन्य सदस्यों को लेकर बैठ गए डर का प्रतीक है, जिसका आधार हमेशा सत्य नहीं, सुनी-सुनाई कथाएं होती हैं. संवाद में अंतिम संदर्भ यहां कमरे में सांप आने की आशंका को लेकर है, जिसे मकान मालिक किराएदार के मन में डाल देता है. यह एक और ऐसा डर है, जिसके चलते किराएदार इतना विचलित होता है कि रात में उसे अपने शरीर के कंकाल में बदल जाने के और उसे चूहों द्वारा खाए जाने का भयानक सपना आता है. वह पलड़े लगने का इन्तजार किए बिना ही कमरे को छोड़ जाता है.

यहां फिल्म एक बहुत ही अर्थगर्भित दृश्य में किराएदार नवयुवक को अपनी साइकिल के साथ वापस अपने कार्यक्षेत्र, अपनी रिहाइश की ओर जाते दिखाती है. इस दृश्य के चाक्षुष और ध्वनि संबंधी अर्थ बहुत ही गहराई से रेखांकित किए गए हैं. दिखाई देता है कि वह प्रकृति के जंगल से निकलकर मनुष्य के रचे कंक्रीट के जंगल की ओर जा रहा है.

इस दृश्य में कोई संवाद नहीं है, लेकिन शहर की इमारतों का विहंगम दृश्य दिखाते हुए फिल्म यहां पृष्ठभूमि में शहरी परिवेश से जुड़ी ध्वनियों का तीखा शोर पैदा करती है. यह दृश्य प्राकृतिक जंगल से डरकर भागते आधुनिक इंसान के लिए विकल्प के तौर पर कंक्रीट का ऐसा जंगल रचती है जहां पक्षियों और अन्य प्राकृतिक आवाजों से मिलकर बनते शोर का स्थान मोटर और अन्य आधुनिक ध्वनि उपकरणों का शोर ले लेता है. फ्रेम में से इंसान के चले जाने के बाद भी कैमरा बहुर देर तक इस कंक्रीट के जंगल के ऊपर ठहरा रहता है और पृष्ठभूमि का कानफोडू शोर बढ़ता जाता है. अगले दृश्य में हम नौजवान को शहर की किसी बहुमंजिला रिहाइश में खड़े चाय पीते देखते हैं.

लेकिन फिल्म की यह कथा यहां खत्म नहीं होती. वह नौजवान वापस उस कमरे आता है. अब उस कमरे में पलड़े भी लगे दिखाई देते हैं और अब वहां कोई और रहने लगा है. वह उस नए किराएदार से संवाद बनाता है. वह नए किराएदार से उसके रिहाइश के अनुभव के बारे में पूछता है. क्या उसके कमरे में गिलहरियां आती हैं. क्या पक्षी उसे भी परेशान करते हैं. उसकी बातचीत से साफ है कि वो इस कमरे को छोड़कर चले जाने से खुश नहीं है. वह जानना चाहता है कि नया किराएदार आखिर कब इस कमरे को छोड़कर जाएगा. नया किराएदार उससे पूछता है कि उसने कमरा क्यों छोड़ दिया था,

नया किराएदार : फिर आपने कमरा क्यों छोड़ दिया था?

पुराना किराएदार : पहले खिड़की में पलड़े नहीं थे. कभी चील, कभी कौवे कमरे के अंदर घुस आते थे. क्यूं साहब, पेड़ से कमरे में सांप आ सकते हैं क्या?

नया किराएदार : जी नहीं, मुझे नहीं लगता.

पुराना किराएदार : पेड़ में सांप तो जरूर रहते हैं.

नया किराएदार : हां, सुना तो मैंने भी है.

इस संवाद के बाद पुराना किराएदार अपने मन में ही अपनी इच्छा प्रगट करता है, *"मैं चाहता हूं कि आपके जाने के बाद मैं फिर से इस कमरे में आ जाऊं."* यहां पुराना किराएदार, जो अब कमरा छोड़ जाने की अपनी गलती पर पछता रहा है, यह कुबूल करता है कि उसके कमरा छोड़ जाने की वजह एक ऐसी आशंका थी जिसका कोई ठोस आधार नहीं.

दरअसल इसके पीछे आधुनिक जीवनशैली का और प्रकृति का खत्म होता आपसी संबंध है, जिसके चलते आधुनिक मनुष्य के मन में अन्य प्राकृतिक जीवों को लेकर भय का भाव बैठ गया है. यह उस आधुनिक शहरी सभ्यता पर कटाक्ष की तरह है जिसमें व्यक्ति के मन में अपने ही प्राकृतिक वातावरण के प्रति भय पैदा कर दिया जाता है, जिसके चलते वह तमाम अन्य प्राणियों को अपने विपक्षी की तरह देखने लगता है. जबकि हम इस पृथ्वी के 'मालिक' नहीं, अधिक से अधिक अपनी मनमानी करने वाले बेसब्र और बड़बोले किराएदार भर हैं. यही सच्चाई है और इसका अहसास हमें जितनी जल्दी हो जाए, उतना ही बेहतर होगा.

❑

संपर्क : ईमेल : miyaamihir@gmail.com

कहानी

राम को जन्मभूमि मिलनी चाहिए

•

प्रीति प्रकाश

संप्रति : शोधार्थी, हिंदी विभाग, तेजपुर विश्वविद्यालय, तेजपुर, असम

संपर्क : प्रीति प्रकाश, पुत्री-स्व. भुवनेश्वर प्रसाद, शक्ति नगर, हरिवाटिका चौक, बेतिया, प. चंपारण, बिहार

मो. : 7667437178

ईमेल : preeti281192prakash@gmail.com

"अभी माथा गरम है."

"आकि हमर हाथ ठंडा है?"

दोनों हाथो को रगड़कर गरम किया बादामी ने. फिर से लड़की के माथे पर हाथ रखा.

"ना, बोखार है अभी."

स्वीकृति में सर हिलाया बादामी ने. थोड़ी देर वैसे ही बैठी रही फिर बेटी के सर पर से तो हाथ हटा लिया पर चेहरे पर से नजरे नहीं हटाई. तभी तो सब उसे 'भटकसुन' कहते. 'भटकसुन' मतलब जिसे अगल-बगल की कोई सुधि नहीं हो. बादामी भी जहां देखने लगती, बस देखती रहती. कुछ पूछो तो भी जवाब नहीं देती. अपनी धुन में खोई रहती. अभी भी जाने कितनी देर से बेटी का चेहरा देख रही थी और जाने कितनी देर और देखती अगर गुदरी में सोया बच्चा नहीं कुनमुनाता. बच्चे की आवाज सुन बादामी उसकी तरफ मुड़ गई. बच्चा इतने सारे कपड़ो में लिपटा था कि कोई दूर से देखे तो समझे कि कपड़े का ही छोटा सा ढेर है. बादामी ने बच्चे के शरीर पर हाथ रखा और उसे थपथपाना शुरू कर दिया.

"आ, आ, आ"

"सुत जा हो..."

"हमर सोनवा हो..."

पर बच्चे पर इस लोरी का कोई असर न हुआ. धीरे-धीरे, रोते-रोते वह जोर-जोर से रोने लगा.

"आऊ आऊ आऊ."

"भुखु लाग गया का हो...?"

"आई, आई हमर राजा जी हो..."

बादामी ने बच्चे को गोद में उठा लिया और कलेजे से साट लिया. जब तक बादामी ब्लाउज के बटन खोलती तब तक बच्चा ब्लाउज ही पीने लगा.जल्दी जल्दी बादामी ने उसका मुंह अपने सूखे स्तन से लगा लिया. बच्चा सुडुप-सुडुप आवाज करके दूध पीने लगा.

बच्चे के चुप होने से निश्चिंत बादामी अब बाहर देखने लगी. बादामी को बाहर देखना उतना ही अजीब लगता जैसे बाहर वालो को उसका घर देखना.

बादामी देखती, "जाने कितनी लंबी सड़क, कहां से आती...कहां जाती. चमकती गाड़ियां, कार, जीप, ऑटो, मोटरसाइकिल और म्युनिसिपैलिटी की कचरा उठाने वाली भयंकर गाड़ी भी. सज-धज के जल्दी-जल्दी आते-जाते लोग, सारे अजनबी चहरे, कोई पहचान नहीं आता. कभी-कभी बादामी को लगता कि वह किसी को पहचान रही है पर जब वो मुस्कुराते हुए उसके पास जाती तो सामने वाला अजीब नजर से देखता और फिर बादामी की हिम्मत ही न होती कि कुछ पूछे. दिन भर हल्ला-गुल्ला रहता और फिर रात को धीरे-धीरे सन्नाटा हो जाता. ढिबरी जला देती बादामी तब. फिर भी उसे डर लगता. राधा को और जोर से कलेजे से चिपका लेती."

सड़क पर आते-जाते लोग देखते, "म्युनिसिपैलिटी की नाली, उस पर टूटी स्लैब, उस पर प्लास्टिक तान के रहती है पगली. पगली के खोपचे में शहर भर का कबाड़ इकट्ठा रहता है. मोटरी गठरी, लुगरी, पोलोथीन, चट्टी बोरा और न जाने क्या-क्या. जाने कहां से इतना गंदा कपड़ा ले आती है पहनने के लिए. कभी-कभी पगली के साथ एक लड़की रहती छह-सात साल की, और अब एकदम छोटा बच्चा भी दिख रहा था आजकल. कहीं बच्चा चोरी करने का काम तो नहीं करती. दिन भर वही खोपचे में बैठे रहती जब वो नहीं बैठे रहती तब लड़की बैठे रहती, जैसे रखवाली कर रही हो अपने ताजमहल की. कभी कभी सीलवड की तसली में रोड के किनारे ही डभकता भात और फिर पता नहीं क्यों लोग उसके बारे में सोचते ही नहीं. एक अजीब-सी वितृष्णा होने लगती."

दूध पीते-पीते बच्चा सो गया. बादामी ने उसे फिर वहीं सुलाकर गुदरी ओढ़ा दी. मैली-कुचैली गुदरी में बालक का शरीर ढक गया बस चांद-सा मुखड़ा दिखता रहा.

बादामी ने उंगली पर दिन गिने. आज तेरहवां दिन था बालक को जन्म लिए. ना ढोल बजा, ना बतासे बंटे, ना ही नए कपड़े आए. किसी और घर में जन्म लिया होता तो आज दूसरी ही रौनक होती. अपनी-अपनी किस्मत. कितना सुंदर चेहरा है. अगर बड़की मेमसाहेब के हाथ में दे दो तो सब कहेंगे कि उन्हीं का जाया है. पैर फैला लिए बादामी ने. बाहर शीतलहरी चल रही है. पैर पर ठंडी हवा लगने लगी तो बादामी ने पैर अंदर कर लिए.

"मां को सर्दी लग जाए तो बेटे को भी लग जाएगी."

बड़की मेमसाहेब ने कहा था. पर कब तक उकड़ू बैठे रहें. ठीक से बैठने की जगह भी तो नहीं है घर में. बादामी को रोना आने लगा. गांव में कितनी जगह थी न. जब वो राधा की उम्र की थी तो ऐसी ठंडी में दिन भर घूर के पास ही बैठी रहती, उसी घूर में शकरकंद पकाते, आलू पकाते, टमाटर पकाते, मटर पकाते और फिर सब मिलकर खाते. यहां शहर में घूर कहां. खूब ठंडा होता तो कोई दुकानदार एक पोलोथीन का बोरा और दूसरा कचरा बटोरकर माचिस लगा देता, ओतने से आड़ हो जाता है. प्लास्टिक बड़ी जल्दी आग पकड़ता है और प्लास्टिक पर पानी का भी असर नहीं होता है. शहर में सबसे अच्छी चीज ये प्लास्टिक ही तो है. लेकिन देखो न बिना प्लास्टिक के किसी का काम भी नहीं चलेगा और सब जुलूस बना कर कहते हैं कि प्लास्टिक हटाओ.

बादामी को हंसी आ गई. उस दिन स्कूली बच्चे हाथ में तख्ती लेकर बादामी के घर के सामने से गुजरे.

"बंद करो,बंद करो."

"प्लास्टिक का प्रयोग बंद करो"

कोई एक माइक में बोलता और सब उसकी बात दोहराते. पहले तो बादामी को कुछ समझ में नहीं आया. और जब समझ में आया तो उसे लगा कि सब उसका घर तोड़ने आ रहे है. वही बैठे-बैठे हिंदी में बोली बादामी उ लोग से—

"बताओ कोई, ई कौनो बात हुआ. प्लास्टिक ना रहे तो बारीश में भीजे का, आ घाम में पाके का सब कोई. आ सामान कहां रखे. भागो अपना ढढ कमंडल लेके. बुझा गया उ लोग को. सब भाग गए. लेकिन लडिका जात, उसी तरह चिलाते चिलाते गए."

जाने कितनी बार बादामी ने यह कहानी राधा को सुनाई है और राधा को भी न जाने कितना रस आता इस बेकार कहानी में. दोनों मां-बेटी पहले खूब हंसते और फिर राधा उसी समय किसी प्लास्टिक की थैली में हवा भरके बलून बना के उड़ाने लगती.

बादामी ने अब बच्चे को सुला दिया और राधा की तरफ मुड़ गई. राधा अभी भी बेहोश-सी सोई थी.

राधा को देखते-देखते बादामी ने फिर से उसके माथे पर हाथ रखा. माथा उसी तरह तप रहा था. बादामी ने बेटी के सर पर प्यार से हाथ फेरा और फिर माथा चूम लिया. राधा ने थोड़ी पलकें खोलीं और फिर मूंद ली. फिर मुंह चलाने लगी जैसे कुछ खा रही हो. बादामी को याद आया कि राधा ने तो सुबह से कुछ नहीं खाया है. घर में कुछ खाने के लिए है भी नहीं. बादामी झट से खड़ी हो गई. साड़ी ठीक की, उलझे बालों को मोड़ा और ऊनी चादर उठा के ओढ़ ली. चलते-चलते एक बार बेटे को देखा. गुदरी में सोया बच्चा बहुत सुंदर लग रहा था. घर से बाहर निकलकर फिर बादामी अचानक से मुड़ी. वापस अंदर आई. बच्चे को चुम्मी दी. गर्मी में सोया बच्चा मां के ठंडे होंठों से जरा-सा परेशान हुआ. थोड़ा कुनमुनाया. बादामी ने फिर से उस पर हाथ रखा.

"सूत, बाबू, सूत.

"जा तानी दीदी खातिर दवाई ले आव तानी."

"बड़की मेमसाहेब से पैसा मांग के ले आव तानी."

"उनका से कहेम..."

और बादामी को समझ ही नहीं आया कि वह क्या कहेगी. उसे तो ठीक से बात करने ही नहीं आती. तभी तो सब उसे बगड़ी, पगली और न जाने क्या-क्या कहते हैं. पर बड़की मेमसाहेब और लोग की तरह नहीं है. स्कूल में पढ़ाती है, बहुत समझदार है. तभी तो बिना कहे उसकी सब बातें समझ जाती है. उस दिन जब झाड़ू लगाने झुकी बादामी तो जैसे झुका ही न जाए. ढोल जैसा पेट बीच में आ जाए. तब बड़की मेमसाहेब ने कहा, "कल से आने की जरूरत नहीं है. घर रहो और अपना ध्यान रखो."

फिर बिना मांगे उस महीना का हिसाब कर दिया और पांच सौ और दिया. कहा कि ठीक हो जाना तब ही आना. छोटा-छोटा कपड़ा-लत्ता भी दिया और मोजा भी.

"बबुआ के मोजा पहिनईने बानी नू?" बादामी ने याद करने की कोशिश की पर उसे याद नहीं आया.

"अच्छा, चादर के भीतरी बा, ठंडा ना लागी."

यही सब सोचते-सोचते बादामी बड़ी मेमसाहेब के घर पहुंच गई. बड़ी मेमसाहेब के दरवाजे पर बहुत भीड़ थी. शायद मंझली दीदी को देखने लड़के वाले आए थे. शायद क्या, वही थे. मंझली दीदी साड़ी पहन के बैठी थी. राधा भी तो कभी-कभी बादामी की फटी साड़ी फ्रॉक के ऊपर लपेट लेती. कहती अब हमहु मां बन गइनी. पागल लड़की!

बड़की मेमसाहेब उसे देखकर बहुत खुश हुई. सब काम पड़ा था. बादामी ने चाय बनाई. कितनी अच्छी लगती है न इलायची की महक. बड़की मेमसाहेब ने ही बताया

था, 'यह इलायची है, यह दालचीनी है. आज कितने दिन बाद बादामी चाय पिएगी. अभी कहां फुर्सत है. सारे प्लेट तो जूठे पड़े हैं. सब धोकर ठीक से पोंछ भी दिया. उसी में मिठाई जा रही है. सारी मिठाइयों के नाम भी तो बड़ी मेमसाहेब ने ही बताया था, रसगुल्ला, चमचम. एक दिन एक बर्फी भी दी थी. पर बादामी ने जीभ पर रखी भी नहीं. ले जाकर राधा को खिला दी. बेचारी उसको भी तो कुछ अच्छा खाने को नहीं मिलता. मझली दीदी की शादी तय हो जाएगी तो वो बड़ी मेमसाहेब से मिठाई मांगेगी. अरे चाय तो ठंडी हो गई. कोई बात नहीं मंझली दीदी को देखने लड़के वाले रोज-रोज थोड़े ही आते हैं?

दो घंटे बाद जब बादामी चलने लगी तो बड़की मेमसाहेब ने बुलाया.

"बादामी, कैसी हो?" बड़की मेमसाहेब ने मुस्कुराते हुए पूछा.

"ठीक बानी बड़की मेमसाहेब." और बादामी को याद ही नहीं रहा की उसे भर पेट खाना खाए बहुत दिन हुए, कि रघुआ के जनम के समय हस्पताल में जो टाका पड़ा था वो अभी भी बहुत दुखता है, कि आठ महीने पहिले उसका पति उसे स्टेशन पर छोड़कर जो भागा तो आज तक उसका पता नहीं चल पाया है. पर बादामी ने फिर से कहा–

"ठीक बानी हम."

"और बताओ, बेटा हुआ कि बेटी?"

"बेटा बा मेमसाहेब, साफ...गोर, दपदप बबुआ."

"नाम क्या रखा है?"

"रघु नाम रखा...था...है... कईसन नाम है...मेमसाहेब?"

ये दो वाक्य बादामी ने दो मिनट में कहे. मेमसाहेब सबर से उसे सुन रही थी.

"नाम तो बहुत अच्छा है बादामी रानी."

मेमसाहेब ने ठिठोली की तो मानो दुनिया भर की खुशी मिल गई बादामी को. घर लौटते समय वह यही सोचने लगी कि कितनी अच्छी है ना बड़की मेमसाहेब. आज तक किसी ने बादामी से उसके बेटे के बारे में नहीं पूछा था. बड़की मेमसाहेब ने पूछा. चलते समय सौ रुपया भी दिया कहा कि बबुआ के नाम पर नेग है, महीना से अलग. एक पोलोथीन में पुलाव दिया. सब्जी खतम हो गई थी. क्या हो गया? बादामी को तो पुलाव ऐसे ही बहुत अच्छा लगता है. राधा को क्या कम अच्छा लगता है? घर चलते चलते रस्ते में बादामी ने फिर सोचा कि आज से दलिद्र भगा देना है. राधा के बाबू को गए आठ महीने हो गए. तब से एक बार भी वो ठीक से तैयार नहीं हुई. आज मंझली दीदी कितनी सुंदर लग रही थी न? वह भी तो पहले कितनी सुंदर लगती थी, राधा के बाबू देखते तो देखते रह जाते थे. नहीं आज से फिर अच्छा से रहेगी. टाइम पर मेमसाहेब के घर भी जाएगी और अपने घर भी खाना बनाएगी. कल से राधा को भी स्कूल भेजेगी.

भेजेगी न बादामी रानी? और बादामी को फिर से हंसी आ गई. चलते-चलते दवाई दुकान पर रुक गई. सर्दी, खासी, बुखार की दवाई ले ली. जाते ही राधा को खिला देगी. खिलाएगी न बादामी रानी? और बादामी फिर हंसने लगी.

इस धुंध में कुछ उतना साफ नहीं दिख रहा था. दिन भर उसी तरह धुंध थी. बादामी ने दोनों हाथ रगड़कर नाक को गर्मी दी. स्कार्फ के फीते कसकर बांधे. लो आ गया बादामी रानी का घर. पर इस बार बादामी को हंसी नहीं आई. घर से चार कदम दूर बबुआ का गुदरा पड़ा था...बादामी ने फिर से देखा—हा-हा, उसकी ही गुदरी है. थोड़ा और दूर बबुआ का मोजा रोड पर पड़ा था. बादामी जल्दी से खोपचे में घुसी और उतने ही तेजी से बाहर भागी. मोजा के आगे पीछे देखा. इधर-उधर दौड़ भाग करके देखा. खाली गुदरी ही उठा के झार के देखा. फिर से खोपचे में जाके राधा को खिसका के देखा. एक-एक सामान, एक-एक कपड़ा उठा के देखा. पर जिसको देखना चाह रही थी वो तो कहीं दिखाई ही नहीं दिया. बादामी को लगा कि उसका कान गरम हो गया, पूरा शरीर अचानक से ठंडा पड़ने लगा, खून जमने लगा. दिमाग सुन्न पड़ गया. पहले सिसकी शुरू हुई लेकिन जैसे जैसे खोज आगे बढ़ती गई आंसुओं की धार और रुदन का स्वर तेज होता गया. फिर एक जोर का क्रंदन वातावरण में फैल गया.

"अरे हमर बबुआ."

"तू कहां गईल हो."

"तू कहां बाड हो..."

"हमर बबुआ के, के ले गईल हो..."

"हमर सोनवा के रोवाईयो नइखे सुनाई देत हो..."

सब दौड़े. पान वाला, चाय वाला, आते जाते लोग और कुछ स्कूली बच्चे भी. देखा...पगली पर भूत सवार है. सब सामान उठा उठा के बाहर फेंक रही है. बटुली, चूल्हा, गुदरा, गठरी मोटरी. पुलाव का पोलोथीन भी वही पड़ा है, आधा फटा पोलोथीन. अब तक के शोरगुल से राधा जग गई थी. फटी फटी आंखों से मां को देख रही थी. बादामी ने झकझोरकर राधा से पूछा—

"बबुआ कहां बा?"

"रे डइनिया बोल ना, कहवा बा बबुआ."

राधा ने कुछ नहीं कहा. भटकसुन मां की भटकसुन बेटी पुलाव की थैली देख रही थी. एकटक, लगातार. जाने कहां से एक कुत्ता आके अचानक से थैली की तरफ बढ़ा और तीन दिन से बुखार में पड़ी लड़की में जाने कहां से उतनी तेजी आ गई. भागकर उसने थैली उठा ली. कुत्ता वहीं आसपास मंडराने लगा फिर सड़क पर पड़ा बच्चे की गुदरी को सूंघने लगा. जाने बादामी को क्या सूझा वो तेजी से बाहर निकली. जहां गुदरा पड़ा था वहां से एक कदम पर खुला नाला था. बादामी ने नाले में झांका और धम्म से बैठ गई.

"हे हमर राम जी, ई का हो गैल हो."

"निकाल लोगन हो..."

"बबुआ के बचाव लोगन हो..."

सबने नाली में झांक के देखा. लाल रंग की फूली शर्ट दिखी. स्कूल के लड़के डंडा ले आए. नाली में डाल के, शर्ट में फंसा के खींचा. थोड़ी देर पहले का मानव शिशु जिसे गुदरी में लिटाया था अब डंडे पर टंगा था. बच्चे को जमीन पर रखा गया. पूरा फूल गया था. बादामी ने आंचल से जल्दी-जल्दी मुंह पोंछा, हाथ पोंछे, पैर पोंछा. बच्चा नहीं हिला. फिर आंचल से ही मुंह में से पाक निकाला. फिर नाक में से. बच्चा नहीं हिला. वो फूल गया था. शायद बहुत देर से पानी में गिरा था. बादामी ने जल्दी से उसका मुंह अपने स्तन से लगाया. अब भी बच्चे ने कोई हरकत नहीं की. बादामी ने अब उसे जोर से झकझोरा. पर पत्थर भी कहीं रोता है. बच्चा उसी तरह निस्पंद रहा.

एक महिला ने बादामी के हाथ से बच्चा ले लिया. जमीन पर लिटा दिया. बादामी ने विरोध नहीं किया, अजीब से आवाज से रोने लगी. गिलिर-बिलिर. जैसे सारे शब्द उससे दूर भाग गए हों, जैसे अब दुनिया में कुछ बचा ही न हो. ऐसा रुदन कि पत्थर का भी कलेजा फट जाए. बबुआ को जमीन पर पड़ा देख और मां को रोता देख जाने राधा को कितना समझ आया, खाना छोड़ वो भी वहीं आके बैठ गई और मां के सुर में सुर मिलाकर रोने लगी.

अब तक भीड़ जमा हो गई थी. कानाफूसी शुरू हो गई.

"कैसी पागल औरत है?"

"भगवान ऐसे लोग को औलाद क्यों देता है?"

"कितना सुंदर बच्चा था."

"बेटा था."

"कैसे बर्दाश्त हो रहा है, भटकसुन-सा बैठी है."

वही कुत्ता पास आकर फिर कुछ सूंघने लगा. शायद पुलाव. कुत्ते की आवाज सुनकर राधा रोना छोड़कर भागकर फिर से खोपचे में आ गई. पुलाव की थैली उठाकर खाने लगी. अकेली बच्ची के हाथ में पुलाव देखकर कुत्ता उसकी तरफ बढ़ा. कुत्ते ने जैसे थैली को मुंह लगाया राधा चिल्लाने लगी. लोगों ने कुत्ते को भगा दिया. पोलोथीन की थैली अब तक कि खींचतान में बहुत फट गई थी. राधा ने चादर के नीचे से अखबार का टुकड़ा निकला और उस पर पुलाव रख खाने लगी. अब तक बाहर भीड़ बहुत कम हो चुकी थी. पूरा पुलाव खाने के बाद राधा ने फिर मां को देखा. वह अभी भी बच्चे को देख रही थी. एक जम्हाई लेने के बाद राधा ने अखबार के टुकड़े को ऊपर उठाया और उसपर लिखे अक्षर मिला मिलाकर पढ़ने लगी.

र आकार रा म राम, क ओकार को, ज न म जनम, भ...भ म दिरघई मी भमी, राम को जनम भमि...

म हरषाई मि ल न दिरघई नी, मिलनी, च आकार चा, ह हरषई हि ए, मिलनी चाहिए...

❒

प्रेम

नंदिनी सिंह

यह स्तंभ दिल्ली और आसपास की कामगार बस्तियों के तरुण-युवा लेखकों की प्रतिनिधि रचनाएं आप तक पहुंचाएगा. ये लेखक और इनका लेखन बने-बनाए खांचों में नहीं समाते. 'घुसपैठिये' स्तंभ के लेखक अभी-अभी जवान हुए हैं या हो रहे हैं. एकाध को छोड़कर इसके सभी संभावित लेखकों की उम्र 20 वर्ष के अंदर ही है लेकिन इन सबमें कुछ सामान्य विशेषताएं भी हैं. सभी की आर्थिक-सामाजिक पृष्ठभूमि लगभग समान है. इससे भी बड़ी विशेषता यह है कि इनके लिए बचपन की किताबें कागजों से उतनी नहीं बनती हैं जितनी उनके संघर्ष, मोहल्लों, माहौल और जगह से बनती हैं. उनकी लिखाई में वे जगहें आपको सुरक्षित मिलेंगी. आप शायद महसूस करें कि साहित्य के उत्पादक और उपभोक्ता, अभिलेखन/रिकॉर्डिंग और सृजन, किस्सा और तथ्य के बीच के अंतर यहां धुंधले पड़ जाते हैं.

साहित्य के सुरक्षित-आरक्षित डिब्बे में घुस आए इन घुसपैठियों को आप कैसे बरतेंगे, यह आप ही को तय करना है.

घुसपैठिये

सिगरेट का कश हवा में उड़ाकर लंबी सांस खींचते हुए वह बोला, यार इसे पीकर मजा आ जाता है पर मैं उसके सामने मना कर देता हूं. यार यह लत छुटती ही नहीं है.

यार, जब मना करती है तो छोड़ क्यों नहीं देता. वह तो तुझ पर मरती है. मैं तो फंस गया, वह तो मुझ पर बहुत भरोसा करती है. हमेशा तेरे बारे में ही बातें करती रहती हैं. मैं तो उसके घर भी बेफिक्री से जाता हूं.

उसकी मम्मी मुझे घर आने-जाने पर रोकती है. उन्हें क्या पता कि वह मेरे दोस्त यानी चूजे अमर से प्यार करती है. वह बहुत बड़े सपने सजाती रहती है और एक तू है कि छुप-छुपकर नशा करता है.

अभी संबंध की बात पूरी भी नहीं हुई थी कि चूजे ने सिगरेट का कश मारकर जमीन पर फेंककर संबंध का कॉलर पकड़ लिया और अपनी तरफ खींचते हुए बोला, उसे कुछ बताने की जरूरत नहीं है. तू मुझे जानता नहीं है कि मैं क्या कर सकता हूं. वह मेरी बंदी है.

नंदिनी सिंह

जन्म : 19 सितंबर, 2003

कक्षा आठ में पढ़ती हैं. अंकुर की नियमित रियाजकर्ता हैं. कहीं भी प्रकाशित होने वाली यह इनकी पहली रचना है.

पता : जे-526, दक्षिणपुरी, नई दिल्ली-62

मो. : 8587904542

संबंध ने कॉलर छुड़ाते हुए कहा, यार, मैं उसे कहां बता रहा हूं, तू तो मेरा यार है, पर हां तू उसकी बात मान ले. चूजा और संबंध दोनों कैमिस्ट की दुकान के जीने पर बैठ गए और अपनी बातों में लगे रहे. सुबह के ग्यारह बजने को आए थे.

धीरे-धीरे गली में स्कूल जाने वाले लड़कों की भीड़ बढ़ने लगी. सबके कंधों पर रंग-बिरंगे बस्ते लटके हुए थे. घुटनों से ऊंची-ऊंची पैंट चढ़ाए एक-दूसरे के कंधे पर हाथ टिकाए कोई स्वीटी सुपारी चबा रहा था, कोई बीड़ी का कश लगा लगा रहा था, तो कोई परांठे को रोल करके खा रहा था. सब आसपास के जीनों पर बैठे लड़कियों के बारे में बातें कर रहे थे. आवाजों और हंसी-ठहाके से गली भर गई. तभी संबंध ने चूजे से कहा, यार चल घर चलते हैं. अभी लड़कियों की छुट्टी में एक घंटा है. हम दोनों नहा-धोकर तैयार हो आते हैं. तभी संबंध ने कहा, यार देख मुंह अच्छी तरह से साफ कर लेना, सिगरेट की बदबू नहीं आनी चाहिए.

दोनों अपनी-अपनी गली में चले गए. गली व सड़क पर लड़कों के झुंड खड़े हो गए. कुछ तो स्कूल जाने वाले और कुछ अपनी बंदियों के इंतजार में. कोई स्कूटी पर बैठा है, कोई बाइक पर. तभी सड़क पर एक भारी भीड़ दिखाई पड़ी. भीड़ स्कूल की लड़कियों की है जिनकी यूनिफॉर्म काफी अलग हैं. किसी की लाल-नीले और सफेद चैक की कुर्ती है, नीले रंग की सलवार तो किसी के हरे रंग की कुर्ती पर सफेद धारियां हैं. कुछ लड़कियां तो सीधे अपने घर की ओर जाने लगीं पर कुछ प्रेमगली की ओर रुख कर रही हैं. उन्हीं में से एक लड़की ने कहा, कल

क्यों नहीं आया था. वहीं पर खड़े एक लड़के ने जवाब दिया, मैं कल मम्मी को दवाई दिलाने गया था, काफी देर हो गई थी इसलिए मैं नहीं आ पाया.

अच्छा ठीक है, अगर नहीं आना हो तो मुझे पहले ही बता दिया करो, मैं अपनी सहेली के साथ यहां खड़ी होकर आपके आने का इंतजार करती हूं तो लोग मुझे शक की निगाहों से देखते हैं. वैसे ही मम्मी मुझसे ढेरों सवाल करती है. मैं भी उनको कह देती हूं कि दोस्तों के साथ पैदल आती हूं. यह कहकर उसने अपनी सहेली को देखा. वह गली के नुक्कड़ पर खड़ी बबलगम चबा रही थी.

एक नजर गली में खड़ी अपनी दोस्त समीरा को देखती और फिर सड़क पर आने-जाने वालों को देखती. समीरा थी कि चूजे के साथ रेडीमेट कपड़ों की शॉप के जीने पर बैठी बातें कर रही थी. दोनों एक-दूसरे का हाथ पकड़कर हंस रहे थे. उन्हें बिल्कुल परवाह नहीं थी कि कोई उन्हें देख रहा है. अपनी बातों में वे इतना खोए हुए थे कि समय का अंदाजा ही नहीं लगा पा रहे थे पर कोने पर खड़ी उसकी दोस्त तानिया बार-बार घड़ी देख रही थी. तभी उसकी नजर सामने से आ रहे समीरा के चाचा पर पड़ी. वह इशारे से समीरा को छुपने के लिए कहने लगी पर समीरा अपनी बातों में इतनी मग्न थी कि कुछ समझना तो दूर हाथ के इशारे से यही कहे जा रही थी कि पांच मिनट और.

समीरा के चाचा उसी तरफ बढ़े चले आ रहे थे. तानिया की सांस रुकने लगी. वह दौड़कर कैमिस्ट की दुकान में घुस गई. तभी दुकानदार ने कहा, ऐ लड़की, क्या चाहिए?

तानिया के चेहरे पर पसीना आ गया. वह घबराहट में लड़खड़ाती हुई बोली, सेंटरफ्रेश दे दो. कितने की है? चार रुपए. तानिया ने अपने कंधे से बैग को उतारा और ऊपर की जेब से पैसे निकालने लगी. वह पैसे नहीं खोज रही थी बल्कि समीरा के चाचा को आते देख रही थी. जैसे ही चाचा दुकान में घुसे तानिया ने जल्दी से पैसे काउंटर पर रखे और दूसरे दरवाजे से बाहर निकल गई. चाचा ने उसे निकलते देखा तो पीछे से बोले, तानिया,समीरा कहां है! तुम दोनों तो एक साथ स्कूल जाते हो.

तानिया ने पीछे मुड़कर जल्दी से जवाब दिया, चाचा आज मुझे नहीं मिली, शायद जल्दी चली गई होगी.

तो तू यहां क्या कर रही है?

चाचा मैं खांसी की दवाई पूछने आई हूं मम्मी ने कहा था कि स्कूल से आते वक्त पूछ कर आना.

मिल गई?

नहीं चाचा, कल मिल जाएगी.

अच्छा तो अब कहां जा रही है. चल मेरे साथ चलियो!

नहीं चाचा, मैं चली जाऊंगी.

अब यहां क्या करेगी?

कुछ नहीं, बस आगे वाली कैमिस्ट से पूछ कर आती हूं शायद वहां मिल जाए. आप चले जाओ, मैं आ जाऊंगी.

अच्छा ठीक है. जल्दी आ जाना. यह कहकर चाचा वहां से चले गए. तानिया ने राहत भरी सांस ली और समीरा के पास जाकर बोली, समीरा तुझे पता है अभी तेरे चाचा यहां आए थे. उन्होंने मुझे देख लिया था. तेरे बारे में पूछ रहे थे. यह सुन कर समीरा के चेहरे पर पसीना आ गया. वह घबराते हुए बोली, अब कहां है चाचा? तूने कुछ कहा तो नहीं.

नहीं मैंने कुछ नहीं कहा.

तूने उन्हें कहा क्यों नहीं कि वह यहीं है और अपनी दोस्त से बात कर रही है.

अगर मैं कह देती तो तेरे चाचा यहीं आ जाते और तुझे चूजे के साथ देख लेते.

हां तो देख लें, मैं तो यही चाहती हूं. इसी बहाने उन्हें पता तो चल जाएगा कि एक लड़का मेरा दोस्त है. अगर किसी और से उन्हें पता चलेगा तो वह मुझे ही बोलेंगे. इससे अच्छा है वे पहले ही जान जाएं.

अच्छा ठीक है लेकिन अभी घर चल, काफी टाइम हो गया है और चाचा ने भी मुझे देख लिया है. चल अब घर चलते हैं इससे पहले चाचा दोबारा यहां आ जाए.

हां-हां, चलते हैं.

चूजे ने समीरा का हाथ पकड़ते हुए कहा, अरे दो मिनट और रुक जाओ न फिर चली जाना.

नहीं समीरा, अब नहीं रुक सकती क्योंकि चाचा यहीं कहीं घूम रहे होंगे अगर उन्होंने मुझे यहां देख लिया तो आज मेरी खैर नहीं इसलिए हमें जाना होगा. तानिया यह कहकर समीरा का हाथ पकड़कर जाने लगी. चूजे ने पीछे से समीरा का बैग पकड़ लिया और पीछे की तरफ खींचा. बैग खींचते ही समीरा पीछे की तरफ झुकी और गर्दन को पीछे की तरफ मोड़ चूजे को देखते हुए बोली, यार बैग मत खींचा कर समझ गया.

चूजा कहने लगा, यार रुक जा दो मिनट.

छोड़ दे ना बैग, जाने दो ना, बहुत टाइम हो गया है.

तानिया बोली, हां-हां, प्लीज.

चूजे ने बैग छोड़ दिया और कहने लगा, अच्छा ठीक है छोड़ देता हूं लेकिन मैं तुम्हें मंदिर तक छोड़ने चलता हूं.

नहीं हम खुद चले जाएंगे क्योंकि चाचा यहीं कहीं होंगे, यह कहकर दोनों वहां से जाने लगे.

तानिया और समीरा गली में धीरे-धीरे पैर रखती हुई गली से बाहर जा रही थी और बार-बार पीछे मुड़कर चूजे को देखती जा रही थी. चूजा भी मायूस चेहरे से उन्हें बाय-बाय कर रहा था. दोनों गली के नुक्कड़ से बाहर निकल गई.

❐

उर्दू कहानी

नर -नारी

•

इंतिज़ार हुसैन

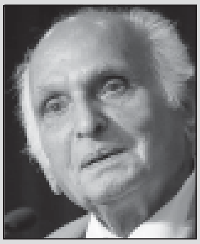

जन्म : 21 दिसंबर 1925, डिबाई जनपद बुलंदशहर (भारत). मृत्यु : 2 फरवरी 2016 (लाहौर) मेरठ कॉलेज से स्नातक और परास्नातक की उपाधियां. विभाजन के बाद पाकिस्तान चले गए. दस संग्रह तथा पांच उपन्यास प्रकाशित. अंग्रेजी दैनिक 'डॉन' में कालम भी लिखते रहे हैं. पाकिस्तान का सर्वश्रेष्ठ सम्मान 'सितारा-ए-इम्तियाज' और आदमजी साहित्यिक सम्मान से सम्मानित. साहित्य अकादेमी के प्रेमचंद फेलो से भी सम्मानित.

अनुवादक : खुर्शीद आलम
एफ 23/6 सी, द्वितीय तल, शताब्दी एन्क्लेव
बरोला, सेक्टर49, नोएडा-201301
मो. 9820811320, 9899630697
ईमेल : khursheed_anam@yahoo.co.in

मदन सुंदरी कितनी खुश थी कि देवी ने उसकी सुन ली, नहीं तो भय्या और पति दोनों ही को वो खो बैठी थी. भय्या जब सिधारने लगा तो उसकी खूब बलाएं लीं. गोपी ने भी उसके सर पर हाथ फेरा, दुआ दी, दुआ ली और चला गया.

गोपी के चले जाने के बाद भी मदन सुंदरी देवी के गुण गाती रही. धावल उसकी हां में हां मिलाता रहा. दोनों ने मिलकर देवी की उस आन-बान को याद किया कि ब्रह्मा-विष्णु और अंदर सब उसकी सेवा में लगे रहते हैं और वो भी अपने भगतों पर कितनी कृपा करती हैं कि जब किसी भगत पर विपता पड़ती है तो वो तुरंत वहां पहुंचकर उसे संकट से निकालती है.

बस इन्हीं बातों में दिन बीत गया. रात हुई और दिन-भर की थकी-हारी मदन सुंदरी सोने के लिए धावल के संग आ लेटी. आज उसकी बांहों में सुख न मिला. वो बदन आज उसे अंजाना लग रहा था. वो हैरान कि आज उसके बदन को क्या हो गया. इस बदन को तो उसका बदन खूब पहचानता था. जब दोनों बदन मिलते तो कैसे घुल-मिल जाते जैसे जन्म-जन्म से एक-दूसरे को जानते हैं और वो हाथ कैसी जानकारी के साथ इस गोरे गर्म बदन के बीच यात्रा करता जैसे उसके सब भेदों को उसने बूझा हुआ है और इस बिजली भरे हाथ को छू जाने से अंग-अंग में एक लहर दौड़ जाती और पूरा बदन जाग जाता. पर आज ऐसा लग रहा था जैसे वो बदन एक दूसरे को जानते ही न हों और वो हाथ जैसे पहली मर्तबा इस बदन के बीच उतरा हो. मदन सुंदरी दुविधा में पड़ गई. क्या ये वही बदन नहीं जिससे रोज रात को लग कर वो सोया करती थी. फिर इतना अनजानापन क्यों? अपनी दुविधा से वो बहुत लड़ी. अपने आपको देर तक रोकती रही. पर एक बार बेकाबू हो कर बोल पड़ी, "ये तो नहीं है." और उसकी बांहों से निकल, उठ बैठी.

धावल हैरान कि मदन सुंदरी को क्या हो गया, "क्या कह रही है तू, ये मैं नहीं हूं?"

"नहीं, ये तू नहीं है." जबान एक दफा खुली तो बस खुल गई.

"सुंदरी होश की दवा ले. मैं अगर मैं नहीं हूं तो फिर कौन हूं." यह कहते हुए धावल उठा. चिराग हाथ में ले मदन सुंदरी के पास बैठा और बोला, "ले देख ले. बोल, ये मैं नहीं हूं."

मदन सुंदरी ने चिराग की रोशनी में पति को देखा और ऐसे बोली जैसे अपने कहे पर शर्मिंदा हो, "हां, है तो यह तू ही."

"अच्छी तरह देख. फिर बाद में किसी संदेह में पड़ जाए. तू खूब देख ले." धावल भी अब उसे परेशान करने पर उतरा हुआ था.

वो परेशान हो गई, "हां, तू ही है." पर यह कहते-कहते उसकी नजर धावल के हाथों पर जा पड़ी. चौंककर बोली, "पर ये हाथ?"

"इन हाथों को क्या हुआ?"

मदन सुंदरी ने धावल की बात अनसुनी की. उन बांहों को तकती रही, "धावल ये हाथ तेरे नहीं हैं."

"फिर किसके हैं?" उसने जलकर कहा.

फिर किसके हैं, यही तो वो सोच रही थी, ये हाथ अनजाने तो नहीं हैं. मगर धावल के भी नहीं हैं. फिर किसके हैं. इसी आन एकदम से गोपी का सरापा उसकी नजरों के सामने आ गया. "गोपी के हाथ?" सहसा उसके मुंह से निकला और वह सन्नाटे में आ गई. उसे सब कुछ याद आ गया था. फिर तो उसका वो हाल हुआ कि काटो तो बदन में खून नहीं. गुमसुम हो गई. बोली तो ऐसे जैसे जुर्म को कबूल रही हो, "स्वामी, मुझसे एक चूक हो गई."

"चूक? कैसी चूक?"

"भारी चूक हो गई." उसके चेहरे पर हवाइयां उड़ रही थीं.

"पता तो चले क्या चूक हो गई?"

"सर-धड़ का घपला हो गया."

"सर-धड़ का घपला?" वो बहुत चकराया. "अरी भागवान, आज तू कैसी बहकी-बहकी बातें कर ही है."

वो रो पड़ी, "स्वामी, तुम मुझे भागवान कहते हो. मुझसे बढ़कर दुरभाग किसके होंगे. एक संकट से निकली तो दूसरे संकट में पड़ गई. फूट जाएं ये नैन जिन्होंने पहले धर्म पति और भय्या प्यारे के सर-धड़ को जुदा देखा और अब सर-धड़ का घपला देख रहे हैं और टूट जाएं ये हाथ जिनसे घपला हुआ."

धावल चकरा-सा गया. सोच में पड़ गया कि कहीं मदन सुंदरी का दिमाग चल-विचल तो नहीं हो गया. बोला, "अरी, सर तो मेरा कटा था, पर मुझे लगता है कि सर तेरा फिर गया है. सीधी बात कर, नहीं तो मैं समझूंगा कि सचमुच तेरी मत मारी गई है."

"हां, मेरी मत ही तो मारी गई थी. हुआ ये कि...और यह कहते-कहते वो सारा दृश्य उसकी आंखों में फिर गया. मंदिर की अंगनाई में देवी की मूर्ति के सामने गोपी और धावल खून में लत-पत पड़े हुए इस तरह कि दोनों के सर अलग, धड़ अलग, उसकी सुध-बुध जाती रही. कुछ समझ में न आया कि ये हुआ क्या, कैसे हुआ? मुंह पीटने लगी, बाल नोचने लगी. दम-भर में आंसुओं की गंगा बह गई. रोते-रोते सामने जो नजर गई तो देखा कि खून में सनी तलवार पड़ी है. खून में सनी उस तलवार को देखकर उसके दिमाग में कुछ और ही समाई. यह मेरे दुर्भाग्य हैं कि स्वामी और भय्या दोनों जान से गए. मैं अभागन अब जी के क्या करूंगी. जिस खांडे ने उनका काम तमाम किया है, क्यों न उसी खांडे से मैं अपना सर काटूं और उन पर वार दूं. ये सोचकर उसने वो खून में सनी तलवार उठाई अपनी गर्दन पर मारने लगी थी कि देवी की मूर्ति से आवाज आई, "नारी खांड फेंक दे, तू सच्ची स्त्री और पक्की बहन निकली. मैं तुझसे प्रसन्न हुई. सो मैंने तेरे पति और भय्या को जीवन दान दिया, तू ऐसा कर कि मुंड को, रुंड से मिला, दोनों जी उठेंगे."

ये आवाज सुनकर उसके तो खुशी से हाथ-पांव फूल गए. बस इसी में गड़बड़ा गई. मत पहले गम से मारी गई थी, अब खुशी से मारी गई. "स्वामी, मेरी मत सचमुच मारी गई थी. ऐसी गड़बड़ाई कि भय्या कि धड़ पर तुम्हारा मस्तक लटका दिया. तुम्हारे धड़ से भय्या का मस्तक चिपका दिया. फिर जो मुझे सुध आई तो मैंने सर पीट लिया कि ये मैंने क्या किया. गलत को सही करने लगी थी पर जो होने वाली बात हो, होकर रहती है. मैं सर-धड़ को फिर से जोड़ने के लिए उठी ही थी कि तुम दोनों जी उठे और मरों को जीता देखकर मैं खुशी से ऐसी बावली हुई कि ये बात ही भूल गई. अब याद आया है तो गड़बड़ाई हुई हूं कि ये तो भय्या और पति का घालमेल हो गया."

धावल ने बात को हंसी में उड़ाना चाहा, "चल, ये तो अच्छा ही हुआ कि भय्या और पति का घालमेल हो गया."

वो तड़प के बोली, "पर मुझे ये चिंता खाए जा रही है कि अब मैं बहन किसकी हूं और पत्नी किसकी हूं."

यह बात सुनकर धावल थोड़ा गड़बड़ा गया. अब उसे सोचना पड़ा. मगर जल्दी ही उसने दूध का दूध पानी का पानी कर दिया. बोला, "अरी, ये फैसला करना कौन-सी मुश्किल बात है. नदियों में उत्तम गंगा नदी है, परबतों में उत्तम सुमेर पर्वत, अंगों में उत्तम मस्तक. धड़ का क्या है वो तो सब एक समान होते हैं. मानव तो अपने मस्तक से पहचाना जाता है. सो तू धड़ पर मत जा. मस्तक को देख कि वो मेरा है."

मदन सुंदरी कायल हो गई. दिल में कहा कि धावल ठीक कहता है. धड़ के न आंख-कान होते हैं, न नाक, न मुंह, कुछ भी नहीं होता. वो तो बस धड़ होता है. उसने धावल के मस्तक को देखा और सब कुछ भूल गई.

वो दोनों इस दूरी के बाद जैसे बहुत पास-पास आ गए हों. ऐसे मिले जैसे एक दूसरे में घुल जाएंगे. पर जब वो हाथ बदन पर आया तो जाने क्या हुआ कि वो फिर भड़क गई. बांहों से तड़पकर निकल गई.

"सुंदरी, अब तुझे क्या हुआ?"

"लज्जा आ रही है."

"किस से? अपने पति से?"

"नहीं, पति से नहीं."

"फिर किस से?"

रुकते-रुकते बोली, "धड़ से."

"हे मेरी धरम पत्नी", वो परेशान होकर बोला, "क्या तू फिर मेरा सर और धड़ अलग-अलग देखना चाहती है. जान ले कि जिसका सर उसका धड़. सो सर भी मैं हूं, धड़ भी मैं हूं."

जब धावल ने सर और धड़ के अलग-अलग होने की बात की तो मदन सुंदरी बहुत दुखी हुई, एक बार उसकी आंखों में वो दृश्य फिर गया कि धड़ अलग सर अलग. "नहीं-नहीं, ऐसी बात मुंह से मत निकालो," उसने तड़पकर कहा. फिर उसने मन ही मन तय कर लिया कि अब वो इस सर और इस धड़ को एक जानेगी.

मदन सुंदरी ने तो तय कर लिया कि अब वो इस सर और इस धड़ को एक जानेगी. पर यह कुछ कहने के बाद धावल दुविधा में पड़ गया. अपने अंग-अंग को देखा, एक बार, दो बार, बार-बार, हे राम क्या यह मैं ही हूं. फिर वहम की एक और लहर उठी. एक मैं ही हूं या कोई दूसरा मुझमें आन जुड़ा है, मैं दूसरे में जा जुड़ा हूं. तो मैं अब सारा, मैं नहीं हूं. थोड़ा मैं थोड़ा वो. आधा तीतर आधा बटेर. नहीं. वह वहम में बह चला था. अपने आप को थामा, नहीं, ऐसा कैसे हो सकता है. ये तो अनहोनी बात है. मदन सुंदरी ने कहा और तूने मान लिया. खैर, मदन सुंदरी की बात तो ये है कि उस बेचारी ने अपने दो प्यारों के सर और धड़ अलग-अलग पड़े देखे. इससे उसका दिमाग चल-विचल हो गया है पर मूर्ख तुझे क्या हुआ कि अनहोनी को होनी समझ बैठा. यूं दिल ही दिल में अपने आप को रोक-टोककर एक दफा तो वो संभल गया. मगर थोड़ी ही देर में उसे खयाल आया कि अनहोनी बात तो यह भी है कि आदमी का सर और धड़ अलग-अलग हो जाएं फिर कोई दूसरा उन्हें जोड़ दे और आदमी फिर उठ खड़ा हो. हां, ये तो बिलकुल अनहोनी बात है. जी उठने के बाद अब पहली मर्तबा

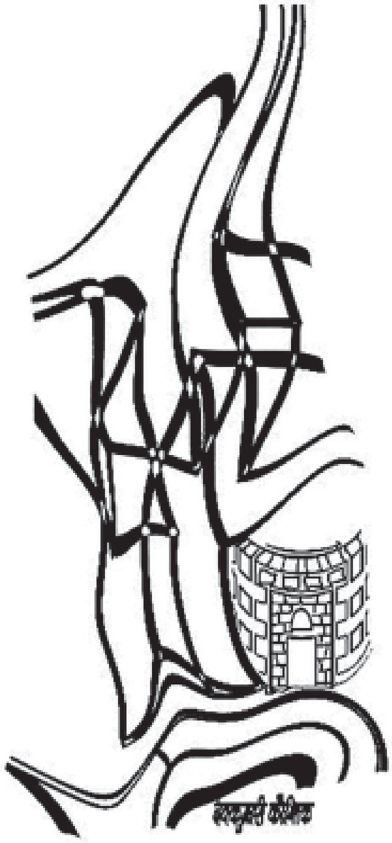

उसे इस अनहोनी का खयाल आया.

अब तक तो उसने इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया था. ऐसे उठ खड़ा हुआ और मंदिर से ऐसी सादगी से निकल आया जैसे कुछ हुआ ही नहीं था. अब उसे इस बात का ध्यान आया और वो हैरान रह गया. अपने आप से बोला कि मैंने तो अपने को ऐसा खांडा मारा था कि सर भुट्टे की तरह उड़कर दूर जा पड़ा था. गर्दन से वो चिपका कैसे और मुझमें सांस दुबारा आई कैसे और फिर मैं ऐसे उठ खड़ा हुआ जैसे आदमी गिर पड़े और कपड़े झाड़ता उठ खड़ा हो. कितने अचरज की बात है.

और वो इतना हैरान हुआ कि सकते में आ गया मगर फिर उसने सोचा कि मदन सुंदरी ने आखिर देवी से विनती की थी और देवी में बड़ी शक्ति है. अनहोनी को होनी करना उसके बाएं हाथ का करतब है. यह सोचते-सोचते उसने सोचा कि अगर एक करतब हो सकता है तो दूसरा करतब भी हो सकता है. इस दूसरे करतब पर भी अब उसे हैरानी हुई.

पहले वो बात को हंसी में उड़ाता रहा, फिर दुविधा में पड़ गया. पर अब वो हैरान हो रहा था कि अच्छा मुझमें दूसरे का धड़ जुड़ गया. पर कैसे? अपने आप से बोला कि मेरी अकल हैरान है कि ऐसा हुआ कैसे? पर मदन सुंदरी कहती है कि ऐसा हुआ. और वो सुनी हुई थोड़ा ही कहती है, आंखों देखी, खुद अपने हाथ से की हुई कहती है.

दोनों करतब उसी के हाथ से हुए. एक करतब देवी की दया से, दूसरा अपनी भूल-चूक से. उसके भेद वही जाने. जो होनी होती है वो होकर रहती है चाहे अनहोनी हो. कितनी अनहोनी बात है पर अब यह है कि मेरा शरीर मेरा नहीं है. मस्तक मेरा है, बाकी सब कुछ दूसरे का. कितने अचरज की बात है. हैरान होकर उसने फिर अपने तन पर नजर डाली. एक बार, दो बार, बार-बार. हर बार उसने अपने अंग-अंग को देखा और हैरान हुआ कि अच्छा ये किसी और के हैं जो मुझमें आन जुड़े हैं.

धावल कितनी देर तक इस अनहोनी पर हैरान रहा. फिर हैरानी कम होती चली गई. दुख बढ़ता चला गया. वो यह सोचकर कितना दुखी हुआ कि उसका आपा सारा उसका नहीं है. दुखी होकर फिर उसने अपने आपे पर नजर डाली एक बार, दो बार, बार-बार. और अब उसे एहसास हुआ कि गर्दन से नीचे तो बहुत कुछ था. एक रंगा-रंग दुनिया, एक पूरी कायनात उसके पास से निकल गई, कितना कुछ था जो खोया गया. उसने ठंडी सांस भरी और दिल में कहा, मैं तो अब तनिक सा ही रह गया हूं, बाकी तो कोई दूसरा ही है. मेरा ले-दे के एक मस्तक, बाकी तो ये सब अंग पराए हैं. डील-डौल इतना पर मैं कितना. लगता है कि हूं ही नहीं. और जैसे उसके पैरों तले से जमीन निकल गई हो. फिर दुविधा में पड़ गया कि अगर मैं नहीं हूं तो ये मेरे बीच कौन समाया हुआ है.

रात गए जब मदन सुंदरी उसके पास

आई और अंग लगी तो वो बड़बड़ाया, "सुंदरी परे रह. ये मैं नहीं हूं."

मदन सुंदरी कुछ हैरान, कुछ परेशान, कुछ खिसियाई कि उसे धावल ने ठुकरा दिया. फिर संभली और बोली, "स्वामी, तुम्हारा इससे मतलब क्या है. तुम कैसे नहीं हो."

वो दुख से बोला, "सुंदरी, सर-धड़ के घपले के बाद मैं रह ही कितना गया हूं. लगता है कि मैं हूं ही नहीं."

"नहीं स्वामी, तुम हो."

"भागवान मैं कहां हूं. मैं तो बस मस्तक तक हूं. मस्तक से नीचे-नीचे तो सारा तेरा गोप?" मदन सुंदरी ने बिजली की सी तेजी से हाथ उसके मुंह पर रख दिया और इतनी सख्ती से रखा कि उसकी सांस रुकने लगी.

देर तक दोनों चुप रहे. दोनों को ही जैसे सांप सूंघ गया हो. देर बाद मदन सुंदरी ने जबान खोली, "स्वामी, तुमने मुझे बताया और मैंने जाना कि नदियों में उत्तम गंगा नदी है. पर्वतों में उत्तम सुमेर पर्वत, अंगों में उत्तम मस्तक. धड़ का क्या है वो तो सब एक समान होते हैं. मानो मस्तक से जाना-पहचाना जाता है. जिसका सर उसका धड़. सो मैंने तुम्हारा मस्तक देखा और चोटी से एड़ी तक तुम्हें एक जाना और अपना स्वामी समझा. प्रीतम, मुझे बात बताकर खुद उससे फिर रहे हो."

धावल बहुत खिसयाना हुआ. उससे कोई जवाब बन न पड़ा. दिल में कहा—मदन सुंदरी सच कहती है. मैंने ही तो उसे यह बात बताई थी. उसे बताकर मैं खुद भूल गया. तो चलो अब उसने याद दिला दिया. अंगों में उत्तम तो मस्तक ही है. चूंकि ये मस्तक मेरा है, सो मस्तक तले जितना कुछ है वो भी मेरा है. चोटी से एड़ी तक मैं ही मैं हूं. कोई दूसरा मेरे बीच नहीं है.

धावल अपने कहे को ज्यादा दिन नहीं निभा सका. जबान से लाख कुछ कहता, अंदर तो चोर बैठा हुआ था. बस एक फांस सी चुभती रहती कि ये तन किसी और का है. सर अपना, धड़ पराया, कैसा अनमेल, बेजोड़ बात है. और उसे अपना पूरा वजूद अनमेल बेजोड़ दिखाई पड़ता. जब रात पड़े मदन सुंदरी उसके संग आराम करती तो वो दुविधा में पड़ जाता कि वो तन किस तन से मिल रहा है.

कितनी बार उसके जी में आया कि इस पूरे धड़ को अपने आपसे तोड़कर कांधे पर लाद के ले जाए और गोपी के सर पर दे मारे कि ले अपना धड़, मेरा धड़ मुझे दे. पर वो धड़ तो उसके साथ जुड़ चुका था. उसे अलग करने की तरकीब उसकी समझ में न आती. पर फिर भी उसे कभी-कभी यूं लगता कि जैसे उसका सर अलग पड़ा है और धड़ अलग पड़ा है और उसे वो राजकुमारी याद आ जाती जो एक दुष्ट राक्षस की कैद में थी. राक्षस रोज सुबह होने पर सिरहाने की छड़ियां पाइंती रखता, पाइंती की छड़ियां सिरहाने रखता. फिर राजकुमारी की गर्दन मारता और उसका सर छींके पर रख बाहर निकल जाता.

दिन भर राजकुमारी का धड़ मसहरी पर पड़ा रहता, सर छींके पर रखा रहता. उससे बूंद-बूंद खून टपकता रहता. शाम पड़े राक्षस चिल्लाता दहाड़ता आता, पाइंती की छड़ियां सिरहाने रखता, सिरहाने की छड़ियां पाइंती रखता. छींके से सर उतारकर धड़ से जोड़ता और राजकुमारी जी उठती. राजकुमारी कितने दुख में थी कि रोज सुबह को उसका सर धड़ से काटा जाता, रोज शाम को सर धड़ से जोड़ा जाता. पर वो सोचता कि राजकुमारी को एक सुख तो था कि सर भी अपना था और धड़ भी अपना था.

ज्यों-ज्यों दिन गुजरे धावल का दुख बढ़ता गया. मदन सुंदरी ने तो यह सोचा था कि कुछ दिन गुजर जाएं तो बात आई गई हो जाएगी और भूली-बिसरी कहानी बन जाएगी. मगर हुआ यह कि जितने दिन गुजरते गए उतनी ही धावल की दुविधा बढ़ती गई. मदन सुंदरी को देख के वो कुछ ज्यादा ही दुविधा में पड़ जाता. मदन सुंदरी को देखता और सोचता कि सुंदरी पूरी पर मैं आधा हूं. आधे से भी कम और जिस धड़ के साथ मैं पूरा बनता हूं वो मेरा नहीं दूसरे का है और वो सोच में पड़ जाता कि दूसरे को जोड़ से पूरा बनकर वो क्या बनता है और कौन बनता है. और मदन सुंदरी उसकी कौन बनी. फिर इस सवाल ने उसे अपने घेरे में ले लिया. इस धड़ के साथ मैं कौन हूं? मदन सुंदरी और उसके बीच जो रिश्ता था उसमें सर-धड़ के घपले से कुछ गुत्थी सी पड़ गई थी. सर-धड़ के रिश्ते में गुत्थी पड़ी हुई थी कि ये एक दूसरी गुत्थी पड़ गई.

कितने दिन बीत गए और धावल से कोई गुत्थी न सुलझी. आखिर में वो मदन सुंदरी को साथ ले नगर से निकल पड़ा. जंगलों की खाक छानता फिरा. चलते-चलते उस जंगल में पहुंचा जहां देवानंद ऋषि वास करते थे, उनके चरण छुए और विनती की कि महाराज तुम महाज्ञानी हो. सृष्टि के कितने भेद तुमने पाए, जीवन की कितनी गुत्थियां सुलझाईं, एक गुत्थी मेरी भी सुलझा दो.

देवानंद ऋषि ने दोनों को गौर से देखा. फिर बोले, "बच्चा, क्या गुत्थी लेकर आया है?"

"हे ज्ञानी! गुत्थी यह है कि मैं कौन हूं और मदन सुंदरी कौन है." और फिर धावल ने अपनी सारी राम कहानी कह सुनाई.

ऋषि जी ने धावल को घूरकर देखा. बोले, "मूर्ख किस दुविधा में पड़ गया. सौ बातों की एक बात तू नर है, मदन सुंदरी नारी है. जा अपना काम कर."

धावल की आंखों पर पर्दा पड़ा हुआ था वह एकदम से उठ गया. ऋषि जी के चरण छुए और मदन सुंदरी का हाथ पकड़ वापस हो लिया.

आंखों से पर्दा उठ चुका था. बीच जंगल से गुजरते-गुजरते धावल ने मदन सुंदरी को ऐसे देखा जैसे युगों पहले प्रजापति ने ऊषा को देखा था और मदन सुंदरी धावल की इन लालसा भरी नजरों को देखकर ऐसे भड़की जैसे ऊषा, प्रजापति की आंखों में लालसा देख के भड़की थी कि भड़ककर भागी फिर पराजित हुई.

❐

इतिहास व भूगोल का रोचक सम्मिश्रण

ममता कालिया

परख

अभी-अभी ईशमधु तलवार का उपन्यास 'रिनाला खुर्द' पढ़कर खत्म किया है गोया अपने देश और पाकिस्तान के सफर से लौटी हूं. राजकमल प्रकाशन से आई 160 पृष्ठों की यह पुस्तक छोटे कलेवर में बड़ी गाथा कहती है. सियासत ने हिंदुस्तान को तकसीम कराकर उसके दो टुकड़े कर डाले लेकिन लोगों के दिल नहीं बंट पाए. इस जमीं से उस जमीं तक बेपनाह मुहब्बत बह रही है चाहे वह नरगिस उर्फ सलमा की आंखों में हो चाहे सुलेमान के ढाबे में.

लोहे के कांटेदार तारों के सिवाय विभाजन रेखा और क्या है, यह पृष्ठ दर पृष्ठ उजागर होता है 'रिनाला खुर्द' में. यहां की फिल्में वहां पाकिस्तान में खूब चाव से देखी जाती हैं, वहां भी लोग दिलीप कुमार और मधुबाला के दीवाने हैं. दोनों मुल्कों में मेंहदी हसन, गुलाम अली, नूरजहां और परवीन शाकिर को खुलकर दाद दी जाती है.

'रिनाला खुर्द' की खूबसूरती के कई पहलू हैं. एक तरफ इसमें पंजाब के रहन-सहन की आत्मीयता चाई जी (मां) के चरित्र से रची गई है, दूसरी तरफ राजस्थान के बगड़ गांव की बेफिक्री में नरगिस और मधुकर की मासूम मुहब्बत परवान चढ़ती है. बंटवारे की भगदड़ में नरगिस पाकिस्तान चली गई और वहां उसका नाम सलमा रख दिया जाता है. वह सुप्रसिद्ध लोक गायिका बन गई लेकिन उसका विवाहित जीवन जंजाल बन गया. उसका पति अरबाज़ हिंसक था. मधु से मिलने पर वे दोनों तय करते हैं कि वह वीजा लेकर हिंदुस्तान आ जाएगी और वे साथ रहेंगे. तीसरी तरफ लेखक लगातार सिद्ध करता चलता है कि पाकिस्तान के गोशे-गोशे में हिंदुस्तान और हिंदुस्तानियों के लिए लगाव और स्वागत-भाव है. हर परिवार की जड़ें हिंदुस्तान के किसी न किसी गांव या कस्बे में छूट गई हैं. मधुकर की चाई जी का बक्सा रिनाला खुर्द में छूट गया है जिसमें उनकी किताबें और अधूरी लिखी कहानियां रखी हैं. उन्हें ढूंढ़ने की मशक्कत में मधुकर को वापस वाघा बॉर्डर पहुंचने में देर हो जाती है और वह पुलिस की चंगुल में फंस जाता है. उस पर जासूसी का आरोप लगता है. अरबाज के इशारे पर हवालात में मधु पर अमानवीय अत्याचार होता है.

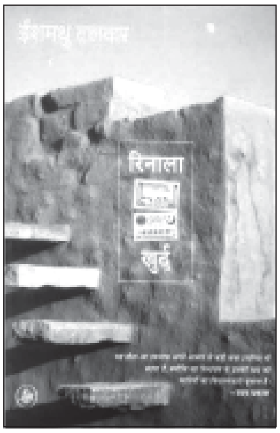

दरअसल लेखक ने पत्रकारिता, फिल्म और साहित्य तीनों माध्यमों का कुशल उपयोग कर 'रिनाला खुर्द' को एक जानदार, जोशीला, एक बैठक में पढ़ने के काबिल उपन्यास बना दिया है.

इसे पढ़ते हुए स्मृति में कई और संदर्भ सजीव हो जाते हैं. यहां भूगर्भ शास्त्री प्रोफेसर मधुकर का सरस्वती उर्फ दफन-नदी को ढूंढ़ने का अभियान राजकपूर की फिल्म 'राम तेरी गंगा मैली' की याद दिलाता है. कभी नरगिस उर्फ सलमा में लोकप्रिय गायिका रेशमा का किरदार झलकता है.

बहुत-सी अखबारी सुर्खियों और सरकारी हस्तक्षेप के बाद अंततः मधुकर हवालात से छूटता है. यह मुक्ति मधु को बहुत देर तक खुश नहीं रहने देती. रिनाला खुर्द के समाचार जानने के बाद चाई जी चिरनिंद्रा में चली जाती हैं. सलमा, पति की बर्बरता से आजिज आकर खुदकुशी कर लेती है. उसका बेटा प्रतिशोध में पिता को गोली मार देता है. मधुकर के पास नीम के पेड़ से लिपटकर रोने के अलावा कोई विकल्प शेष नहीं रहता. इस तीव्रगति कथा की विशेषता यह है कि इसका हर पृष्ठ जीवन की धड़कन से भरा हुआ है. लाहौर के बाजार और झीलें, क्लब और मकान, सड़कें और सिपाही, यहां तक कि चांद गाड़ी, सब चलते-फिरते गतिमान दिखाई देते हैं. कितने मेवाती हिंदुस्तान से उखड़कर पाकिस्तान जा बसे, इसका परिचय वाघा बॉर्डर से ही लग जाता है. लेखक के मुख से मेवाती बोली सुनते ही सब वतन की प्रेम डोर में बंध जाते हैं. ईशमधु मेवाती जीवट बयां करती कहावतें भी बताते चलते हैं–'मेव मरा तब जानिए जब चालीसा हो जाए', 'मेव जाने अपनी टेव' और 'अजब देस मेवात, पहले गाली पीछे बात'.

मधुकर और नरगिस का किशोर प्रेम भी रससिक्त मेवाती बोली में परवान चढ़ता है :

"नरगिस, तू मोकू भोत मलूक लगे."

"तो?"

"तो कांई, मैं तोसे ब्याह करना चाहूं."

दोनों सूखे कुएं में मुंह झुकाकर पुकारते हैं 'मधु, मधु, मधु', 'नरगिस, नरगिस, नरगिस'.

मेवाती शब्द 'हम्बै' कई बार आया है. यही शब्द हम्बै ब्रजभाषा में भी है अर्थात हां.

शब्द संपदा इस कृति में पृष्ठ दर पृष्ठ खुलती है. चाई जी की पंजाबी, पीली लूगड़ी और हरे घाघरे में खेतों में काम करती औरतें, लोकगीत, कहीं पंजाबी तो कहीं मेवाती, कहीं उर्दू के शेर, रेशमा के सुनाए रतवाई गीत और सिरायकी बिरहड़ा. दृश्य ऐसे हैं जो सुने-सुनाए नहीं, रचे-बचे हमारी आंखों में. लेखक कभी रहीमयार खां की सैर करा देता है तो कभी चोलिस्तान की. इतिहास और भूगोल का ऐसा रोचक सम्मिश्रण इस उपन्यास में है कि तथ्य भी कथ्य बन गए हैं. दफन नदी, सरस्वती पर विभिन्न भू-वैज्ञानिकों का अध्ययन तेज रफ्तार से बताते हुए लेखक कहता है कि सरस्वती की खोज राजस्थान और बहावलपुर में करने पर यह पुष्टि हो गई कि हाकड़ा और घग्गर के सूखे हुए नदी-तल पर ही सरस्वती बहती थी. पाकिस्तान के बहावलपुर में एक लोहे के फाटक का नाम ही है 'बीकानेर गेट'. बीकानेर के सौ ऐसे स्थल हैं जहां इस लुप्त नदी के चिह्न पाए गए हैं. कमाल यह है कि इस भौगोलिक विवरण में लेखक चाई जी की पुरानी यादें पिरोकर एक अविभाजित भारत की दुर्लभ तस्वीर जिंदा कर देता है. कभी मुलतान सामने आ जाता है जहां भक्त प्रह्लाद का मंदिर, मस्जिद के पहलू में खड़ा था तो कभी मांटेगुमरी जहां की जेल मशहूर थी और अब उसका नया नाम साहीवाल हो गया है. शायर फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ मांटेगुमरी जेल में बहुत दिन कैद में रहे थे. रिनाला खुर्द के बारे में भी दुर्लभ जानकारियां हैं. ओकाड़ा जिले का यह कस्बा एक तरफ फलों से लदे हुए पेड़ों के लिए मशहूर है तो दूसरी तरफ घोड़ों के लिए. यहां के घोड़े डरबी रेस में अव्वल आते हैं. कसूर का जिक्र आने पर ईशमधु बताते चलते हैं कि बुल्लेशाह और नूरजहां दोनों कसूर के थे.

कहां तक इसकी कहानी बयान की जाए. तभी उपन्यास की भूमिका में कहानीकार उदय प्रकाश कहते हैं, 'इस राग और विराग से भरे बेहद पठनीय किस्से में एक साथ कई कहानियां एक-दूसरे के समानांतर चलती हैं.'

❐

पुस्तक : रिनाला खुर्द
लेखक : ईशमधु तलवार
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
मूल्य : 150 रुपए (पेपरबैक)

संपर्क : बी 3ए/3/3, सुशांत एक्वापॉलिस, क्रॉसिंग रिपब्लिक के विपरीत, एन.एच-24, धुनदहेरा, गाजियाबाद-201016
मो. : 9212741322

लघुकथा

मजबूरी

नरेंद्र कौर छाबड़ा

थाने में पुलिस के सामने अधेड़ आदमी गिड़गिड़ा रहा था—"साब, मुझे मत मारो. सच कहता हूं मैंने कोई चोरी नहीं की. मुझे छोड़ दो...घर में पत्नी रो रही होगी..."

"हरामजादे..." आदतन गाली देते हुए पुलिसकर्मी बोला, "एक तो चोरी ऊपर से सीनाजोरी. सेठ जी क्या झूठ बोल रहे हैं?"

"मैंने कब कहा सेठ जी झूठ बोल रहे हैं लेकिन आप मेरी बात तो सुन लो...फिर जो जी में आए कर लेना."

अधेड़ की डबडबाई आंखों को देख पुलिसकर्मी कुछ नरम पड़ा. बोला, "अच्छा चल, जल्दी से कह डाल जो कहना है."

नम आंखों को फटी कमीज की बांहों से पोंछते हुए अधेड़ आदमी बोला—"साब, मैं बहुत गरीब आदमी हूं. मेरा इकलौता बेटा जो पंद्रह साल का था दो दिन की बीमारी के बाद चल बसा. पड़ोस के चार लोगों ने मदद करके अर्थी, कफन जुटा दिए. पर उसकी चिता के लिए लकड़ी का जुगाड़ नहीं हो सका. सेठ जी के पिता की चिता धू-धू करके जल रही थी और उसमें ढेरों लकड़ियां थीं. अचानक मेरे मन में ख्याल आया, क्यों न यहां से कुछ लकड़ियां उठाकर अपने बच्चे का दाह संस्कार कर दूं. मैं मौके की तलाश में वहीं बैठा रहा. जब सब लोग चले गए तो मैं दौड़-दौड़कर उस चिता से लकड़ियां उठाने लगा. तभी मुझे वहां के चौकीदार ने देख लिया. उसने सेठ जी को खबर कर दी. अब आप ही बताओ साब क्या मृतक बेटे को अग्नि न देता? उसका दाह संस्कार न करता? मैंने मजबूरी में जो काम किया उसके लिए अगर आप मुझे दोषी मानकर सजा देना चाहो तो..." वह फफककर रो पड़ा.

पुलिसकर्मी धीरे से बोला, "अब चुपचाप यहां से फूट ले वरना इंस्पेक्टर साहब आकर तेरी खटिया खड़ी कर देंगे. चल जल्दी से भाग..."

❐

संपर्क : ए-20 सिग्नेचर अपार्टमेंट्स
तंदूर होटल के पीछे, बंसीलाल नगर, औरंगाबाद-431005 महाराष्ट्र
मो. : 9325261079
ईमेल : narender.chhabda@gmail.com

प्रत्यंचा से खुलता ओझल इतिहास

रामकुमार कृषक

परख

'प्रत्यंचा' संजीव का नया उपन्यास है. उपन्यास के 17वें अध्याय में दर्ज उनकी एक पंक्ति है—''मौत कई छोटी-छोटी मौतों का समुच्चय है.'' इस वाक्य को हम जीवन और मृत्यु के प्रगाढ़ संबंध के नाते देख सकते हैं. हालांकि 'जीवन' का शब्दरूप यहां कहीं नहीं है, लेकिन जीवन है. लेखक ने सदियों से मृत पड़े समाज में जीवनरूपी इसी प्रत्यंचा से शब्द-संधान किया है.

संजीव कल्पनावादी कथाकार नहीं हैं, न कलावादी. कथावस्तु के मोर्चे पर तो एकदम नहीं. उनके लिए उनका वर्तमान इतिहास में झांकने का माध्यम है, और इतिहास वर्तमान को आंकने का. इस सिलसिले में वे जिस समाज और उसके विभिन्न घटकों का चित्रण करते हैं, उसका अपना सौंदर्य है और वह ऊपरी या बाहरी चमक पैदा करने के लिए नहीं है. यथार्थपरक तो वह है ही, मूल्यधर्मिता के नाते सत्याग्रही भी है. यथार्थ का मूर्तन ही सत्य का अमूर्तन है. एक बाह्य है, दूसरा आंतरिक. संजीव इनके समंजन को संभव करते हैं. विभेद और अलगाव उनके यहां नहीं है. यथार्थ को देखने, रचने की समग्र दृष्टि उनके पास है. यही कारण है कि 'प्रत्यंचा' से खुलता ओझल इतिहास सौ साल बाद भी हमारे आज का ही सच है.

लेखक के शब्दों में, यह कथाकृति 'छत्रपति शाहू जी महाराज की जीवनगाथा' है. शाहू जी महाराज, यानी छत्रपति शिवाजी महाराज के वंशज. भारतीय जन-मानस शिवाजी को जिस रूप में जानता है, वह एक योद्धा की छवि है, जिन्होंने आजीवन मुगल सम्राट औरंगजेब से लोहा लिया. लेकिन यह उनके संघर्ष का एक पक्ष है, जबकि तत्कालीन ब्राह्मणवादी व्यवस्था में उन्होंने अपने क्षत्रित्व के लिए जो संघर्ष किया, उसे हम नहीं जानते. संजीव यहां उन्हीं के वंशज शाहू महाराज के अप्रतिम व्यक्तित्व और मनुवादी व्यवस्था से किए गए उनके संघर्ष को उजागर करते हैं, और इसी संदर्भ से शिवाजी के संघर्ष को भी वे रेखांकित करते हैं.

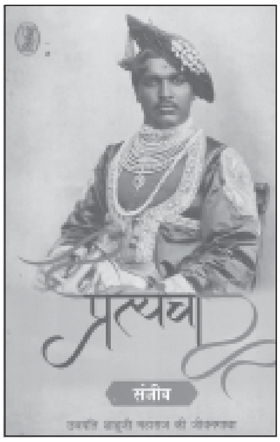

मुगल सल्तनत से अपनी प्रतिरोधी भूमिका और सामाजिक उत्थान के लिए शिवाजी के संघर्ष का एक विडंबनापूर्ण पहलू भी है, जिसे लेखक ने रवींद्रनाथ ठाकुर के शब्दों में सामने रखा है.

भारतीय समाज की यही वर्णवादी-जातिवादी जटिलताएं शाहू जी महाराज के सामने थीं. राजा थे वे. क्षत्रिय, योद्धा. लेकिन ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने न तो 17वीं सदी में शिवाजी को क्षत्रिय स्वीकार किया, न ही 19वीं-20वीं सदी के संधिकाल में शाहू जी को. ब्राह्मणों के लिए वे शूद्र थे. बावजूद इसके कि उस दौर में ज्योतिबा फुले और दयानंद सरस्वती के सुधारवादी आंदोलनों की गूंज थी. एक ओर फुले का 'सत्यशोधक समाज' था तो दूसरी ओर स्वामी दयानंद का 'आर्य समाज'. मतभेद दोनों में जरूर थे, और गहरे थे, जिनकी ओर संजीव ने रवींद्रनाथ ठाकुर के बहाने संकेत किया है.

'प्रत्यंचा' उपन्यास के कथानक के विरुद्ध यों तो अनेक खलनायक सक्रिय थे, लेकिन उनके भी नायक थे बाल गंगाधर तिलक. गोखले भी थे यह सीख देते हुए कि ''ब्राह्मणों के प्रहार से बचने के लिए आपके लिए उचित यही होगा कि आप ब्राह्मण विरोध से दूर रहें.'' (पृ. 224) तिलक की भूमिका लेकिन हमें चकित करती है. उनकी यह भूमिका 'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' जैसे उनके महान उद्‌घोष को भी एकांगी और संदेहास्पद बना देती है. भारत का पिछड़ा, पददलित समाज उनके उस 'हमारा' में किस हद तक शामिल था, संजीव ने इस पर खुलकर, और शायद पहले-पहल विचार किया है.

शाहू महाराज अलबत्ता तिलक के 'स्वातंत्र्य अधिकार' के चरित्र को बखूबी पहचान रहे थे. लेखक ने इसे अनेक कथा-प्रसंगों के सहारे सामने रखा है. एक प्रसंग मां आनंदीबाई के देहांत का है. ब्राह्मणों का एक वर्ग वेदोक्त रीति से उनके दाह-संस्कार के विरुद्ध है. इससे उसे अनिष्ट की आशंका है. चाहता है कि उनका दाह-संस्कार पुराणोक्त होना चाहिए, वेदोक्त नहीं. इसे लेकर खून-खराबा तक होते-होते बचा. संस्कार अंततः वेदोक्त रीति से ही हुआ, लेकिन उसी समय कुछ कुटिल ब्राह्मणों ने पुराने राजमहल में आग लगा दी. संजीव इस घटना की सामाजिक व्याप्ति तक जाते हैं.

इसी संदर्भ में एक महत्वपूर्ण प्रसंग और. तिलक महाराज शाहू जी से मिलने पधारे हैं. ब्राह्मण सेवकों द्वारा उनके पांव पखारे गए. उन्हें नए-नकोर गमछे से पोंछा

गया. बातों ही बातों में बिना किसी संदर्भ के तिलक ने कहा—

''मैंने उस विषय पर गहराई से सोचा. छत्रपति होने के नाते आप वेदोक्त के अधिकारी हो जाते हैं...मगर क्षत्रिय होने के नाते नहीं...वह दूसरी चीज है.''

''मैंने पूछा तो नहीं लोकमान्य!'' हंस पड़े शाहू तिलक के इस तर्क पर, ''क्षत्रिय होने के नाते नहीं?''

''न!''

''तब कल को, मान लीजिए एक मुसलमान छत्रपति हो जाय तो उसे वेदोक्त का अधिकार दे देंगे?''

निरुत्तर हो गए तिलक. फिर-फिर वही तर्क, वही प्रतितर्क.

''आपका राष्ट्रप्रेम प्रणम्य है लोकमान्य! अलबत्ता सिर्फ राष्ट्र, उस राष्ट्र का जन नहीं. जन वहां ब्राह्मण है, शूद्र है. हृदय आपका उदार है. इस अंतर्विरोध से जूझते रह जाएंगे. पार नहीं पाएंगे. राष्ट्र का जन राष्ट्र से अलग होता है क्या? सिर्फ कंकड़-पत्थर, भूगोल, इतिहास, परंपराएं...?''

''मैं आप जैसे अंग्रेज-भक्त से 'राष्ट्र' का पाठ पढ़ने नहीं आया.''

''फिर मुझ शूद्र के यहां अपवित्र होने आए क्यों?...घृणा की खेती कब तक करते रहेंगे. इस खेती के आपसे भी बड़े शेतकरी खुद को आपसे भी बड़ा हिंदू मानते हैं. आपको तंबोलियों के नेता कहते हैं आपके वे मित्र! यही बोया है ब्राह्मण धर्म ने, अपनों को भी नहीं बख्शा. सर्वात्मक वैषम्यविहीनता ही राष्ट्रीय एकता का मूलाधार है. आंखों पर पट्टी होने के नाते आप नहीं देख रहे हैं लोकमान्य!'' (पृ. 90-91)

शाहू महाराज के इस तेवर की तिलक महाराज ने कल्पना तक नहीं की थी. कोल्हापुर की जिस राजगद्दी को कल 'हिंदू हृदय सम्राट' छत्रपति शिवाजी गौरवान्वित कर चुके थे, शाहू उसी के सच्चे वारिस सिद्ध होंगे, यही उनका विश्वास था, यही ब्रह्मनीति. कूटनीति भी कह सकते हैं.

शाहू महाराज के व्यक्तित्व में दरअसल एक बहुलतावादी बौद्धिक निवास करता है. दयानंद का आर्य समाज, फुले का सत्यशोधक समाज, राजा राममोहन राय का ब्रह्म समाज, ऐनी बेसेंट की थियोसोफिकल सोसायटी जैसी सभी संस्थाएं उन्हें प्रभावित करती हैं. प्रभाव इनके कम-ज्यादा स्वाभाविक हैं, नकार भाव किसी के प्रति नहीं. फिर भी वे इन सबमें सत्यशोधक समाज के निकट हैं, क्योंकि वही उन्हें सर्वाधिक रेडिकल चेंज का पक्षधर लगता है. प्रेरित-प्रभावित उन्हें विद्यासागर भी करते हैं, विवेकानंद भी. राजनीति ऐसे में गौण हो जाती है, रह जाते हैं धर्म, संस्कृति और समाज. बल्कि समाज में भी प्रमुखतया दलित और पिछड़े हुए समाज. लेखक के शब्दों में, ''शाहू का लक्ष्य एक; और सिर्फ एक था—सामाजिक मुक्ति. समाज, जिसमें शूद्रों और अति शूद्रों के साथ अन्याय हो रहा था.'' उनके साथ न्याय हो, सामाजिक बराबरी, वे सम्मान के हकदार हों, इसे अगर राजनीति कहा जाय तो यही उनकी राजनीति थी. वे तिलक महाराज या प्रकारांतर से ब्राह्मणों के उस 'स्वराज्य' के समर्थक नहीं हैं, जो 'उनका' जन्मसिद्ध अधिकार था. कहते हैं—''ये देखो, स्वराज्य का निहितार्थ क्या निकलता है—वर्तमान जातिवादी व्यवस्था में चंद दमनकारियों के हाथों में शक्ति का हस्तांतरण!''

कहता तो इतिहास और भी बहुत कुछ है. बौद्धकालीन थेर गाथाओं से झांकते समतावादी समाज और स्त्री-स्वातंत्र्य की आकांक्षाएं भी इतिहास का हिस्सा हैं और उस इतिहास को लोक-स्मृति से मिटानेवाले शंकराचार्य जैसे शास्त्रज्ञों के मनुवादी कुचक्र भी. विडंबना यही कि सुनता कौन है! लेखक अलबत्ता सुन रहा है. उसके आज में कल और कल के अनेक प्रश्न टंगे हुए हैं, जिनके उत्तर तलाशते हुए वह बार-बार शाहू जी के मानस में प्रवेश कर जाता है.

'राष्ट्रवाद' की इसी प्रश्नाकुलता से जुड़ा एक चरित्र 'प्रत्यंचा' में और है—सावरकर, जो आज फिर से हमारे सामने आ खड़ा हुआ है. एक ऐसा विभाजित व्यक्तित्व, जिसने राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना के सकारात्मक विस्तार को धर्मांधता की पोखर के हवाले कर दिया. संजीव ने सावरकर की (पूर्ववर्ती) वैचारिकी को उजागर करने के लिए नरेंद्र दाभोलकर लिखित कुछ पंक्तियां भी उद्धृत की हैं.

वैचारिक तौर पर परवर्ती सावरकर को यह देश और इसका इतिहास जिस रूप में जानता है, उसकी निर्मिति में उसके आत्म को ही कारण नहीं माना जा सकता. उनकी उस निर्मिति या परवर्ती भूमिका के पीछे ब्रिटिश शासन के निहित स्वार्थ तो थे ही (कि हिंदू-मुस्लिमों की एकता में दरार डाली जाय), तिलक आदि हिंदू नेताओं या प्रच्छन्न, भगवा राष्ट्रवाद के पैरोकारों की प्रेरणा भी थी. अन्यथा जो व्यक्ति 1907 में अपनी चर्चित पुस्तक 'द इंडियन वॉर ऑफ इंडिपेंडेंस-1857' में लिखता है कि ''हिंदू और मुस्लिम दुश्मन नहीं हैं, न विजेता हैं और न विजित, सिर्फ बंधु हैं'', वही सन् 1923 में अपनी विवादास्पद किताब 'हिंदुत्व' में यह कहकर हिंदुओं का आह्वान न करता कि ''समूची राजनीति का हिंदूकरण करो और हिंदुओं का सैन्यकरण करो.'' उल्लेखनीय है कि 1925 में डॉ. हेडगवार ने सावरकर की ही प्रेरणा से आर.एस.एस. की स्थापना की थी, जिसका एक ही उद्देश्य था—हिंदुओं की एकता और प्रतिगामी सोच का विस्तार. यह सोच उसी सोच को चुनौती थी, जो भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के मूल सरोकारों और उसके बहुलतावादी चरित्र को सुदृढ़ करनेवाली थी, और जिसे सुदृढ़ करनेवालों में पंडित मोतीलाल नेहरू, विट्ठल भाई पटेल, पंडित रमाबाई और भीमराव अंबेडकर जैसे व्यक्तित्व शामिल थे. दूसरी कतार 'शिवाजी क्लब' से जुड़े अरविंद घोष, खुदीराम बोस जैसे युवा क्रांतिकारियों की थी, शाहू जिनसे प्रायः असहमत हैं. गांधी के प्रति श्रद्धा भाव है. यों दोनों के विचारों में हालांकि दूरी भी है. स्वराज दोनों को काम्य है, किंतु कैसा स्वराज? गांधी की दृष्टि में 'स्वराज' का मतलब ब्रिटिश शासन से मुक्ति है, शाहू

महाराज उससे पहले अस्पृश्यता से मुक्ति चाहते हैं. संजीव ने इन दोनों की 'एक छोटी-सी मुलाकात' का उल्लेख किया है. 'स्मृतियों के सघन जाल में जुगनू-सा फंसा रह-रहकर दमकता हुआ दिन–16 अप्रैल, 1920.' स्वाधीनता आंदोलन और डिप्रेस्ड क्लास पर बातचीत. शाहू खुद गांधी से मिलने गए थे. उसी तरह गांधी ने स्वयं उठकर उन्हें बाहर तक छोड़ा. कहा–''आपसे मिलने के पहले भी इस मुद्दे पर सोचता रहा, पर नहीं, आज जैसा नहीं. आज तो लगता है, अस्पृश्यता-निवारण ही प्रत्येक देशभक्त की वास्तविक अग्नि-परीक्षा है. आपने अदम्य नैतिक साहस का परिचय दिया है शाहू जी! अस्पृश्यता गुलामी से भी भयंकर चीज है.'' (पृ. 205)

शाहू जी के 'नैतिक साहस' और सामाजिक अवदान के बारे में डॉ. अंबेडकर की यह टिप्पणी भी उल्लेखनीय है, जिसे लेखक ने 'मूकनायक' में प्रकाशित उनके एक लेख से लिया है–''डॉ. सर जगदीशचंद्र बोस ने पूरे विश्व को अपनी इस खोज से चकित कर दिया कि पेड़-पौधों में भी जीवन है. वे भी हमारी तरह संवेदित होते हैं. अंग्रेजों की श्रेष्ठता का गुरूर इस खोज से पंक्चर हो गया, ध्वस्त हो गए शिखर कंगूरे और भारत के भूदेवों की सर्वोच्चता और विशिष्टता के अहंकार भी. पर ये गर्वांध तथाकथित भूदेव अब भी यह मानते हैं कि हम अस्पृश्य कुत्ते-बिल्ली से भी अधम हैं, हमें संताप नहीं होता, न ही संवेदना. यह मानने के लिए चौड़ी छाती और फौलाद का जिगरा होना चाहिए, जो कि एक सच्चे क्षत्रिय के पास होता है. इस तरह क्षत्रिय वंश के सच्चे अवतंश हैं छत्रपति शाहूजी महाराज, (जिन्होंने) अपनी महान आत्मा की रोशनी से तथाकथित ऊंची जातिवालों ने जिन वंचितों को सदियों तक निर्जीव और अस्पृश्य बनाए रखा था, उनको आत्मसम्मान से रोशन कर दिया.'' (पृ. 291-92) उल्लेखनीय है कि गांधी उन्हें उनके 'अदम्य नैतिक साहस' के साथ जोड़कर देख रहे हैं तो अंबेडकर 'महान आत्मा की रोशनी' से प्रकाशमान. यहां ये दोनों ही महापुरुष अंग्रेजों को भी कुछ संदेश दे रहे हैं, और उनसे भी कुछ अधिक ब्राह्मणों को.

दरअसल शाहू महाराज के बहाने संजीव की कथादृष्टि भारतीय इतिहास के अत्यंत महत्वपूर्ण कालखंड का विवेचन करती है. यह उस इतिहास का कथांतरण है, जिसमें राजनीतिक ही नहीं, सामाजिक आंदोलन भी जारी थे; और जिनके साथ धर्म और जातियों की आधारभूत जड़ताएं भी जुड़ी हुई थीं. संजीव इनकी गहराई में जाते हैं, और निम्न मानी जानेवाली कामगार जातियों की उन विडंबनाओं को भी शब्दबद्ध करते हैं, जिनकी शिकार ये जातियां स्वयं रहीं, बल्कि आज भी हैं. इसलिए शाहू महाराज का यह सोचना और मानना गलत नहीं कि ''सवर्ण ही अकेले दोषी नहीं. असवर्ण भी कुछ कम नहीं. एक ही जाति की उपजातियों तक में ऊंच-नीच है, छुआछूत है.'' ब्राह्मणवादी वर्चस्व के नाते बीसवीं सदी भी उन्हें चाणक्य नीति से पोषित लगती है. उन्हें लगता, ''जैसे वे दो हजार साल पहले के काल में आ गए हों, जहां चाणक्य नंद को शूद्र कहकर अपमानित कर रहा हो!'' लेकिन यहीं उनका अपना क्षात्रबोध भी जीवित है–''वक्त आ गया है कि चाणक्यों को फिर से उनकी औकात बता दी जाय!'' (पृ. 79) यह उनका क्षात्रबोध और स्वाभिमान ही था कि जब वे विदेश जाने वाले थे तब कुछ ब्राह्मण उनको आशीष देने खड़े हुए. इस पर उन्होंने कहा कि मैं आप लोगों के आशीर्वादों को नहीं, अभिशापों को लेकर विदेश जाऊंगा!

लेकिन शाहू महाराज के इस गौरवबोध के साथ अनेक किंतु-परंतु भी जुड़े हुए हैं. विभिन्न जातियों के जातिगत संस्कार, मनोविज्ञान और गौरवबोध भारतीय समाज की तब भी सच्चाई थे, आज भी सच्चाई हैं. अकारण नहीं कि दलितों या वंचितों की आकांक्षाओं में आज भी यह भाव शामिल है कि वे स्वयं भी सवर्णों की बराबरी करें. मंदिरों में जाकर पूजा करने या अब्राह्मण पुजारी बनने की चाहत का आखिर और क्या औचित्य है? दुर्भाग्य से शूद्र वर्ण में रखा गया हमारा दलित या पिछड़ा वर्ग आज भी इससे मुक्त नहीं हो पाया है. ऐसे में अपनी-अपनी जातियों की श्रेष्ठता की चाह में उन्हें गोलबंद करना तो उसी जातिवाद का पोषण करना हुआ, जिससे मुक्त होने की बात हम करते हैं. संजीव इस मुद्दे को कई कोणों और कई कथा-प्रसंगों के सहारे उठाते हैं.

इसके बावजूद शाहू महाराज का समूचा जीवन ब्राह्मणवादी श्रेष्ठताबोध के बौद्धिक और सक्रिय प्रतिरोध का उदाहरण है. उनके व्यक्तित्व में एक ओर क्षत्रपति शिवाजी का रक्त-गौरव है तो दूसरी ओर जोतिबा फुले का प्रेरक आदर्श. वे पहले ऐसे शासक हैं जो बहिष्कृत जातियों, अस्पृश्य और पिछड़े समाज के साथ दृढ़ता से जा खड़े हुए. रहन-सहन भी उन्होंने प्रायः उन्हीं जैसा रखा. रुडियार्ड किप्लिंग और उनके शिकारी मित्र जब एक दिन शाहू जी से मिलने आए तो उनके 'राजत्व' को देखकर हैरान रह गए–''तीन ओर बरामदों से घिरा एक मामूली दो मंजिला मकान! बस? यह तुम्हारा शयनकक्ष है–चौखम्भे में छाजन से ढका सख्त तख्त! उस पर बारहसिंगी मृगचर्म! बस? एक गद्दा तो डाल लेते! नहीं? दुनिया में और किसी राजा-महाराजा का होगा ऐसा शानदार शयनकक्ष! हवाएं इधर से उधर सहलाती हुई गुजर जाएं. ...और समय भी! और सिंहासन...? सिंहासन कहां है राजा?''

अंत में संजीव के कथाशिल्प और कथाभाषा पर भी कुछ बात की जानी चाहिए. सर्वप्रथम तो यह कि उनकी इतिहास-दृष्टि में वर्तमान सर्वोपरि है. अतीत उनके यहां गल्प और गायन का विषय नहीं, बल्कि अन्वेषण और विश्लेषण का विषय है. यह उनकी कहानियों में भी है, उपन्यासों में भी. दूसरे यह कि वे अपने चरित्रों के मनोलोक में उतरकर उनसे संवाद करने या उन्हें अपने

पाठकों से संवाद करने का अवसर देते हैं. शाहू महाराज अपनी संघर्ष-यात्रा में जैसे स्वयं से ही नहीं, पाठकों से बातें करते हैं, और पाठकों को लगता है कि वह किसी आईने के सामने खड़े हैं, जिसमें उनका अपना अक्स भी बिंबित हो रहा है. इसे हम इतिहास का वर्तमान कह सकते हैं. इसी के चलते संजीव भाषा-विषयक रचाव के नाते भी विशेष उल्लेखनीय हैं. उन्हें पढ़ते हुए हम उस अंचल की भौगोलिक, सांस्कृतिक और सामाजिक यात्रा करते हैं, जो उनके कथा-फलक और उसमें निहित अंतर्वस्तु का आधार है. उससे गुजरते हुए हम उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दरूपों के रंग और गंध तक को अनुभव कर सकते हैं, और उस वाचिक भंगिमा को भी जो एक देशज समाज की पहचान कराती है. इस प्रक्रिया और भाषायी विवेक के चलते संजीव उस अलगाव या दूरी को पाटने का भी काम करते हैं, जो हमारे भाषायी बहुलतावाद के संरक्षण के लिए जरूरी है.

कहा जा सकता है कि संजीव की कला-दृष्टि और भाषिक संस्कृति का अपना यथार्थ है, जिसे आंख-ओझल नहीं किया जा सकता. जगह-जगह अपने भावलोक के लिए वे काव्यात्मक भी हो जाते हैं, कवि अलबत्ता नहीं हो पाते. हालांकि आजकल गद्य लिखते हुए ही सफल कवि हुआ जा सकता है. वैसे अपनी कथावस्तु और उसके भाषा-विन्यास को लेकर तीखी आलोचनाओं की 'कमाई' भी उन्होंने खूब की है, पर उसका भी अपना मूल्य है. उलझाते भी कहीं-कहीं हैं, कई जगह अमूर्तन की हद तक भी चले जाते हैं. इसीलिए उनका ऐसा कथाशिल्प उनकी लोकोन्मुख रचनाशीलता को प्रश्नांकित भी करता है. लेकिन लेखकीय स्वातंत्र्य को चुनौती नहीं दी जा सकती. उसका 'अंदाजे-बयां' ही उसकी पहचान बनाता है. संजीव की अपनी पहचान है. 'प्रत्यंचा' का व्यापक कथा-फलक उसे और गहराई देता है.

❒

पुस्तक : प्रत्यंचा
लेखक : संजीव
प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
मूल्य : 325 रुपए

संपर्क : सी 3/59, नागार्जुन नगर, सादतपुर विस्तार, दिल्ली-110090
मो. : 9868935366
ईमेल : alavpatrika@gmail.com

कुमार विनोद की ग़ज़ल

जिसे देखिए वो अंदर से डरा हुआ है
जिंदा होते हुए भी थोड़ा मरा हुआ है

यूँ तो उसके कदमों में है गजब की तेजी
जरा पूछ के देख तो कितना थका हुआ है

बारिश में कल रात मेरा मन भीग गया था
जख्म पुराना, फिर से कोई हरा हुआ है

कभी-कभी भूले से वो भी हंस देता है
साँप दुखों का गले में जिसके पड़ा हुआ है

बड़े-बड़ों को यहां पे धोखा हो जाता है
जो मालिक है असल में खुद ही बिका हुआ है

हाय गरीबी जब से उसके घर आई है
एहसानों के तले वो सबके दबा हुआ है

❒

संपर्क : प्रोफेसर, गणित विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)
मो. : 9416137196
ईमेल : vinodk_bhj@rediffmail.com

सूबे सिंह 'सुजान' की ग़ज़ल

धुंध गहरा रही है उसको उतर जाने दो
सबको मरना है यहां, उसको भी मर जाने दो

कत्ल करती है तरक्की भी बहुत लोगों को
थोड़ा परहेज करो, जख्मों को भर जाने दो

इतने सूरज न बनाओ कि तुम्हीं जल जाओ
यूं करो फूल उगाओ, और बिखर जाने दो

ऐ बुरे लोगो जरा बचके रहो अच्छों से
ये जिधर जाएं, बस इनको तो उधर जाने दो

रोती तन्हाई तेरे पास आ बैठी है 'सुजान'
इसको सहलाओ, कहो वक्त गुजर जाने दो

❒

संपर्क : गांव-सुनेहड़ी खालसा, डाक-सलारपुर, पिन 136119 जिला-कुरूक्षेत्र, हरियाणा
मो. : 9416334841
ईमेल : subesujan21@gmail.com

रागों की अनसुनी कहानी

शंकर कुमार झा

परख

अभी हाल ही में प्रकाशित प्रभात प्रकाशन से किताब 'रागगीरी-फिल्मी संगीत में शास्त्रीय रागों की अनसुनी कहानी' एक अभिनव प्रयास है. लेखकद्वय ने एक नई पहल की है जिसके लिए उनकी सराहना की जानी चाहिए. दरअसल इस विषय पर अधिक काम हुआ नहीं है. आज के युग में जब किशोर और युवा वर्ग पाश्चात्य संगीत की ओर अधिक उन्मुख हैं, हमारे युवा शास्त्रीय संगीत से दूर भागते हैं, ऐसे में इस तरह का प्रयास उनमें एक अभिरुचि पैदा करेगा.

संसार का सारा संगीत बारह स्वरों और बाइस श्रुतियों में ही सिमटा हुआ है. चाहे वह भारतीय संगीत हो (लोक और शास्त्रीय दोनों) अथवा पश्चिमी संगीत हो, स्वर और श्रुतियां तो यही रहेंगी बस इनके प्रयोग का ढंग अलग होगा. इसीलिए संगीत मनीषी उस्ताद अमीर खां के मेघ 'घनन घनन घन गरजो रे' सुनने वाले को जब यह कहा जाए कि 'मुन्नी बदनाम हुई डार्लिंग तेरे लिए' जैसा गाना भी शुद्ध रूप से राग मेघ पर आधारित है तो वह आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रह सकेगा. केवल स्वरों के प्रयोग करने का ढंग अलग है. इस दृष्टि से इस तरह की पुस्तक आज की किशोर और युवा पीढ़ी को हमारी इस समृद्ध परंपरा की ओर आकर्षित कर सकेगी. परंतु यदि थोड़ी और मेहनत की जाती तो यह एक अनूठी पुस्तक हो सकती थी.

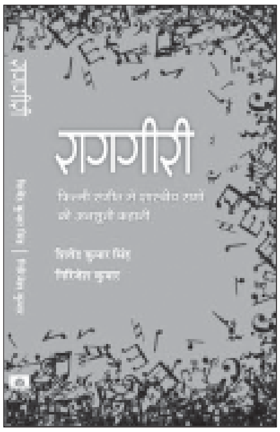

'रागगीरी-फिल्मी गीतों में शास्त्रीय रागों की अनसुनी कहानी'. इस शीर्षक को पढ़कर कुछ ऐसा लगता है कि शास्त्रीय रागों पर आधारित गीतों से जुड़ी कुछ अनसुनी या कम सुनी कहानियां पढ़ने को मिलेंगी पर ऐसा है नहीं. अधिकतर कहानियां ऐसी हैं, जिनका उस राग पर आधारित गीतों के निर्माण से कोई लेना-देना नहीं है. जैसे फिल्म 'कोहिनूर' का राग हमीर पर आधारित गीत 'मधुवन में राधिका नाचे रे'. इस गीत में लेखकों ने दिलीप कुमार द्वारा बजाए गए सितार के टुकड़े का जिक्र तो किया है, मगर इस गीत से जुड़ी दो-तीन ऐसी बातें जो इस किस्से को समृद्ध बना सकती थी उनका जिक्र करना भूल गए. मसलन, सितार की वह गत उस्ताद विलायत खां साहब की बजाई हुई है और जो तानें मुकरी ले रहे हैं, वह वस्तुतः किराना घराने के प्रसिद्ध उस्ताद नियाज अहमद खां साहब द्वारा गाई गई हैं. लेकिन जो सबसे दिलचस्प बात थी, वह थी कि फिल्म की रिलीज से पहले प्रोड्यूसर को लगा कि यह गाना कुछ ज्यादा शास्त्रीय हो गया है, पब्लिक इसे पसंद नहीं करेगी, इसीलिए इसे निकाल देना चाहिए. नौशाद साहब ने बड़े मन से यह गाना बनाया था. उनका मन इस गाने को रखने का था. मगर उनकी प्रोड्यूसर से बात करने की हिम्मत नहीं पड़ रही थी. आखिर में रफी साहब प्रोड्यूसर के पास गए और कहा, "आप इस गाने को फिल्म में रहने दें. यदि यह गाना फ्लॉप होता है तो मुझे पूरी फिल्म की एक पैसा मजदूरी मत दीजिएगा. यदि गाना हिट होता है तो जो आपकी मर्जी हो वह दीजिएगा." इतिहास गवाह है कि वह गीत सुपर हिट हुआ. प्रोड्यूसर भी कमाल के थे. उन्होंने रफी साहब को एक ब्लैंक चैक दिया और कहा, "आप इसमें मनचाही रकम भर लें." रफी साहब ने चैक रख तो लिया, लेकिन उसे एक स्मृति चिह्न मानकर, एनकैश नहीं किया.

इस तरह के छुए- अनछुए प्रसंगों से कुछ बात बनती है ऐसी कहानियों की, जो उस गीत के निर्माण से जुड़ी न हो, किताब के शीर्षक के अनुसार कोई प्रासंगिकता नहीं है. हीरो-हीरोइनों की मसालेदार कहानियां तो फिल्मी रिसालों में छपती ही हैं. इनका शास्त्रीय रागों पर आधारित गीतों से क्या संबंध?

दूसरी बात कई जगह गीतों को जिन रागों में बताया गया है, वह सही प्रतीत नहीं होती. कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

फिल्म 'मधुमती' का गीत 'टूटे हुए ख्वाबों ने' दरबारी और नट भैरवी पर आधारित है, न कि कौशिक कान्हड़ा पर.

गीत 'तुम मिले दिल खिले' में धानी का प्रभाव ज्यादा है, भीमपलासी का कम.

प्रसिद्ध भजन 'श्री रामचंद्र कृपालु भजमन' राग यमन कल्याण पर आधारित है, हमीर पर नहीं.

'झूमती चली हवा' राग सोहनी पर आधारित है, मधमात सारंग पर नहीं.

‘देख कबीरा रोया’ का गीत ‘कौन आया मेरे मन के द्वारे’ राग रागेश्री पर आधारित है, बागेश्री पर नहीं.

‘ए री जाने न दूंगी’ राग कामोद पर आधारित है, तिलक कामोद पर नहीं.

इस तरह की त्रुटियों को यदि प्रकाशन के वक्त ध्यान से देखा जाता तो यह एक अनुपम पुस्तक हो सकती थी. आशा है अगले संस्करण में इन्हें सुधार लिया जाएगा.

इस सुंदर प्रयास के लिए लेखकों का अभिनंदन. इस विषय पर ऐसी और भी पुस्तकों की आवश्यकता है.

❒

पुस्तक : रागगीरी—फिल्मी संगीत में शास्त्रीय रागों की अनसुनी कहानी
लेखक : शिवेंद्र कुमार सिंह, गिरिजेश कुमार
प्रकाशक : प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली
मूल्य : 450 रुपए

संपर्क : ए-56, योगीश्वर सोसायटी
नोविनो तरसाली रोड
वड़ोदरा-390010 (गुजरात)
ईमेल : shankar.jha@gmail.com

लघुकथा

चिड़िया

सुकेश साहनी

कमरे में गहरा सन्नाटा पसरा हुआ था. वह अपने दिल की धड़कन को मानो पूरे शरीर से सुन रहा था.

एक के बाद एक हादसों ने उसे तोड़कर रख दिया था. जीवन में रोशनी की कोई किरण न देख वह दिन-रात उसी के बारे में सोचता रहता था और आज वह साक्षात उसके सामने खड़ी थी.

उसकी सम्मोहित करने वाली नजरें उसे अपनी ओर खींच रही थी. उत्तेजना के मारे उसका पूरा शरीर थरथरा रहा था.

वह उसे गले लगाने ही वाला था कि हल्की फड़फड़ाहट से उसका ध्यान भंग हो गया.

न जाने कहां से एक गौरैया कमरे में घुस आई थी और दीवार घड़ी पर बैठी उसे ताक रही थी. कमरे के सभी खिड़की-दरवाजे उसने अच्छी तरह बंद कर रखे थे. फिर?

उसका ध्यान बचपन के दिनों की तरफ चला गया, उन दिनों अक्सर वह चिड़िया को घर में बंद कर लेता था, उड़ा-उड़ाकर थका देता था, जब चिड़िया बिल्कुल पस्त हो उड़ने में असमर्थ हो जाती थी तो वह उसे बहुत प्यार से हाथ में लेकर दाना-पानी देने की कोशिश करता था. बेहद डरी, हांफती चिड़िया अपने सामने रखी खाने-पीने की चीजों की ओर देखती भी नहीं थी. एक बार मां ने उसे रंगे हाथों पकड़ लिया था और प्यार से समझाया था. उस दिन से उसने यह खेल बंद कर दिया था.

उसे लगा पहले कैसे भी चिड़िया को कमरे से बाहर निकालना होगा अन्यथा वह भूखी-प्यासी मर जाएगी. उसने मच्छरदानी के बांस से रोशनदान को खोल दिया और चिड़िया को बाहर निकालने की कोशिश करने लगा, लेकिन चिड़िया रोशनदान से विपरीत दिशा में उड़कर उसकी मां की माला चढ़ी फोटो पर जा बैठी.

उसकी स्मृतियों में पिता कहीं नहीं थे, अलबत्ता मां से जुड़ी बहुत सी यादें थीं, पर जब से वह उसकी जिंदगी में आई थी, वह उनसे कटने लगा था. चिड़िया की वजह से न चाहते भी उसकी नजरें मां से मिलीं और उसके भीतर कुछ पिघलने लगा.

पंखे के नीचे से वह उसे बुला रही थी, पर अब उसकी आवाज बहुत दूर से आती मालूम दे रही थी.

मां घरों में बरतन सफाई का काम करती थी और चाहती थी कि उसका बेटा बड़ा आदमी बने. उसे याद आया कि घर में इतने पैसे नहीं बचते थे कि मां और वह पांव में चप्पल भी पहन सकें. एक बार जब उसके पैर में कांच लग गया था तो मां कितनी दुखी हो गई थी और उसी दिन उसके लिए हवाई चप्पल ले आई थी. सोचते हुए उसकी आंखें नम हो आईं.

फोटो पर बैठी चिड़िया अभी भी टुकुर-टुकुर उसे ताके जा रही थी.

‘कैसे भी चिड़िया को मुक्त करना होगा’ सोचते हुए उसने कमरे की एकमात्र खिड़की को भी खोल दिया. चिड़िया फोटो से उड़कर टांड़ पर रखे संदूक पर जा बैठी.

हारकर उसने कमरे का दरवाजा खोल दिया ताकि चिड़िया आराम से बाहर उड़ जाए. दरवाजा खोलते ही उसकी आंखें चौंधिया गईं. उसके ठीक सामने सूरज चमक रहा था. वह सूरज की रोशनी में नहा गया. उसे लगा जैसे वह गहरी नींद से जागा हो. मिचमिचाती आंखों से उसने भीतर देखा—वह कहीं नहीं थी, उसके स्थान पर पंखे से फांसी का फंदा लगी नायलॉन की रस्सी लटक रही थी, नीचे वही स्टूल पड़ा था जिस पर चढ़कर वह उसे गले लगाने वाला था.

और चिड़िया...? वह अबभी भी घर में थी.

❒

संपर्क : 193/21, सिविल लाइंस, बरेली-243001 (उ.प्र.)
मो. : 9634258583 ईमेल : sahnisukesh@gmail.com

महा–अभियान की महागाथा

विनोद वार्ष्णेय

परख

अरुण कुमार असफल का उपन्यास ‘78 डिग्री’ उस समय की महागाथा है जब वैज्ञानिकों में यह जानने की प्रबल जिज्ञासा थी कि आखिर हमारी पृथ्वी का आकार कैसा है, इसका वास्तविक माप कितना है. आसमान में तारों की स्थिति के अवलोकन के आधार पर कुछ सिद्धांत विकसित हुए थे जिनसे कुछ गणनाएं और दावे पेश किए जा रहे थे. लेकिन इनकी पुष्टि के कोई साधन न थे.

लेकिन इस पुस्तक में वर्णित कहानी उस समय की है जब पृथ्वी की सतह पर दो बिंदुओं के बीच की दूरी जंजीर से नापी जाती थी. मापन संबंधी यांत्रिकी, खुर्दबीन, दूरबीन आदि के विकास के वे शुरुआती दिन थे. ये चीजें उस समय के हिसाब से महान उपलब्धियां थीं और कुछ ही देश उन्हें बना पाते थे. इन उपकरणों के जरिए पूरी पृथ्वी को सही-सही नापना और उसका सटीक मानचित्र बनाने का उपक्रम सचमुच में मानवीय हौसले, परिश्रम, धैर्य और कुशलता की दरकार रखता था.

अरुण कुमार असफल ने जिस महागाथा के बारे में लिखा है, वह विशेषकर 2,500 किलोमीटर लम्बी ‘78 डिग्री देशांतर रेखा’ के मापन से जुड़ी है जो विश्व का इस तरह का सबसे बड़ा वैज्ञानिक अभियान था. ये काल्पनिक रेखाएं गोल पृथ्वी पर हैं इसलिए गोलाकार होती हैं इसलिए इसका उल्लेख महत्तम चाप (या महाचाप) के रूप में भी किया जाता है. लेखक बताता है कि भारत में चले इस अभियान में जितनी जानें गईं, उतनी भारत में उस दौरान विभिन्न युद्धों में गई होंगी.

इन युद्धों, योद्धाओं के पराक्रम और रणकौशल, राजाओं-नबावों की हार-जीतों और नए साम्राज्य की स्थापनाओं के इतिहास पर सैंकड़ों पुस्तकें हैं लेकिन मानवीय वैज्ञानिक जिज्ञासा के वशीभूत चले उक्त महा-अभियान पर ढूंढ़ने पर भी हिंदी में कुछ खास नहीं मिलता. संभवतः इस विषय पर हिंदी में यह अपने किस्म की पहली पुस्तक है.

पुस्तक के लेखक ‘भारतीय सर्वेक्षण विभाग’ में कार्यरत हैं और इस नाते सर्वेक्षण और मानचित्रण के विज्ञान, उससे जुड़ी तकनीकी प्रक्रियाओं और उसके इतिहास से बखूबी वाकिफ हैं जिससे पुस्तक विभिन्न तकनीकी विवरणों के मामले में विश्वसनीय है. पुस्तक में कथा-तत्त्व प्रचुरता से है.

जो पाठक भूगोल या भू-सर्वेक्षण के कार्य या सिद्धांत से अपरिचित हैं, उनके लिए महत्तम चाप, अठहत्तर डिग्री देशांतर रेखा, अठारह डिग्री अक्षांश, त्रिकोणीय शृंखला, त्रिकोण की आधार रेखा और समूचे भू-क्षेत्र को त्रिकोणों में बांटने की अवधारणा आदि चीजें अबूझ बनी रहेंगी हालांकि लेखक ने दावा किया है कि ‘तकनीकी पदों और क्रियाओं का सरलीकरण किया गया है जिससे साहित्य के पाठकों को यह कहानी सहज लगे’.

पुस्तक में जहां-जहां तकनीकी या सैद्धांतिक विवरण आते हैं, वहां-वहां लगता है कि सरपट दौड़ती गाड़ी कहीं ऊबड़-खाबड़ इलाके में घुस आई है. अन्यथा तो पुस्तक अक्सर रोचक उपन्यास जैसा आनंद देती है जिसमें हीरो हैं विश्व-प्रसिद्ध विलियम लैम्बटन और जॉर्ज एवरेस्ट जो अद्भुत जीवट, लगन, कभी हार न मानने वाली जिद के धनी हैं. उनका किरदार बहुत अच्छे ढंग से पेश किया गया है.

पुस्तक में भू-सर्वेक्षण की जरूरत, लंबे समय तक चलने वाले इस अभियान की जटिलताओं, इससे जुड़ी जिज्ञासाओं के वर्णन के जरिए उन बुनियादी सवालों की भी जानकारी दी गई है जो उन दिनों वैज्ञानिकों को विस्मित करते थे और अपने आसपास की प्राकृतिक भौगोलिक स्थितियों और ब्रह्मांडीय पिंडों की असलियत को समझना चाहते थे. उनमें एक बड़ा सवाल यह था कि पृथ्वी का आकार कैसा है--चपटा, गोल, दीर्घवृत्तीय, चतुर्भुजीय या अर्धगोलाकार. यह जानने के लिए नई-नई युक्तियां और उपकरण सोचे जा रहे थे, बनाए जा रहे थे. भौगोलिक दूरियां मापी जा रही थीं, उन्हें ज्यामितीय कोण (डिग्री) की समझ से जोड़ा जा रहा था. पुस्तक उस समय के अंकगणित, ज्यामिति, दर्शन और खगोल संबंधी परिकल्पनाओं का खासा ऐतिहासिक बोध करा देती है.

इसमें ऐसे विवरण भी बहुत हैं जो उस समय के भारतीय समाज और ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रशासनिक तरीकों को समझने में मदद करते हैं. प्रस्तुत भू-वैज्ञानिक अभियान उस समय का है, जब ईस्ट इंडिया

कंपनी कोई व्यापारिक प्रतिष्ठान मात्र नहीं रह गई थी. अंग्रेज भारत की आंतरिक कूटनीति में दखल देने लगे थे और पूरे भारत में अपना साम्राज्य फैलाने के लिए सैनिक व्यूहरचना और अपेक्षाकृत सुगम मार्गों के लिए भू-सर्वेक्षण को बहुत ही उपयोगी चीज मानते थे. लेखक ने बताया है कि जो सैन्य कर्मचारी गणित और खगोलशास्त्र का थोड़ा बहुत भी ज्ञान रखते थे, वे रास्ते भर नाप-पैमाइश और खगोलीय प्रेक्षण की मदद से रास्ते का कच्चा खाका तैयार करते जाते थे. दिशा के सही ज्ञान के लिए खगोलीय प्रेक्षण जरूरी होता था और उसके लिए वेधशालाएं जरूरी थीं. पर उस समय सारी वेधशालाएं स्थानीय शासकों के कब्जे में थीं इसलिए अंग्रेज जगह-जगह अपनी निजी वेधशालाएं बनवा रहे थे. हिंदुओं को गणित और खगोलशास्त्र में महारत हासिल थी, इसलिए उनकी पांडुलिपियां भी खोजी जा रही थीं.

पुस्तक का पहला हीरो विलियम लैंबटन ब्रिटिश सेना में था और भारत आने से पहले अमेरिका युद्ध में भाग ले चुका था. 1796 में वह आर्थर वेलेजली की 33वीं बटालियन में लेफ्टिनेंट बनकर भारत आया. पर उसकी मूल दिलचस्पी भू-विज्ञान में थी. भारत में उसने अपना वैज्ञानिक कार्य चलाया और प्रतिष्ठित वैज्ञानिक पत्रिका 'एशियाटिक रिसर्च' में शोध लेख भी प्रकाशित करवाए.

ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के लिए भू-सर्वेक्षण की उपयोगिता प्रमुखतः भूमि पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करने, प्राकृतिक संसाधनों के दोहन तथा परिवहन के लिए आधार संरचना बिछाने की जरूरत से जुड़ी थी. इसके लिए दूरियों, दिशाओं, सीमाओं, क्षेत्रफलों का जानना आवश्यक था. पहले ये सब जानकारियां स्थानीय लोगों के स्मृति पटल पर अंकित रहती थीं पर जब यह सब मानचित्र के रूप में कागज पर अंकित होने लगी तो जानकारियां समेटने और उसके विश्लेषण की क्षमता और विश्वसनीयता बहुत बढ़ गई.

इतिहास गवाह है कि पृथ्वी पर विभिन्न भू-भागों के आकार यानी लंबाई-चौड़ाई-ऊंचाई-वक्रता आदि संबंधी गणित की शाखा 'भू-गणित' का आधुनिक युग 1700 में शुरू हुआ. औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप नए नए किस्म के यंत्र भी बनने लगे. सर्वेक्षण की त्रिकोणीय विधि विशेष रूप से प्रचलन में आई.

पूरे भारत को वैज्ञानिक परिशुद्धता के साथ मापने के लिए लैंबटन ने इसी विधि के आधार पर 'ग्रेट ट्रिगोनोमेट्रिकल सर्वे' की योजना बनाई जिसके तहत पूरे भारत को त्रिकोणों में बांटना और उनका मापन किया जाना था.

लैंबटन के सर्वेक्षण की उत्कृष्टता की वैज्ञानिक समुदाय में प्रशंसा हो रही थी. 1817 में उसे रॉयल सोसाइटी का सदस्य बनाया गया. उधर, ईस्ट इंडिया कंपनी के कुछ अधिकारी गवर्नर जनरल के कान भरा करते कि '78 डिग्री देशांतर' के चक्कर में निजाम के क्षेत्र का नक्शा तैयार करने में बहुत विलंब हो रहा है. टीपू सुल्तान के मारे जाने के बाद संपूर्ण निज़ाम और मैसूर का क्षेत्र जिस तरह अंग्रेजों को मिल गया, उसी तरह 6 अप्रैल 1819 को संपूर्ण मराठा क्षेत्र पर भी अंग्रेजों का आधिपत्य हो गया और लंदन सरकार के लिए सभी जगह के सटीक मानचित्रों की जरूरत और बढ़ गई ताकि हुक्मरानों को यहां के चप्पे-चप्पे की जानकारी हो सके.

पर यह काम चटपट कैसे हो सकता था? किसी तय किए गए क्षेत्र में त्रिकोण की एक भुजा, आधार-रेखा को मापना ही बहुत लंबा कार्य होता था. अकेले इसमें ही डेढ़-दो माह का समय लग जाता. इसके बाद रेखा के दोनों सिरों पर खगोलीय प्रेक्षण करना होता जिससे रेखा की सही-सही दिशा निर्धारित की जा सके. यह काम कई रातों में संपन्न हो पाता. खगोलीय प्रेक्षण जटिल कार्य होता था जिसे गणित और खगोलशास्त्र जानने वाला व्यक्ति ही सही-सही कर सकता था. इसमें गलती का अर्थ होता दिशा में भटकाव. इसलिए यह काम लैंबटन खुद करता. इसके लिए उसे कई-कई रातें जागकर बितानी पड़तीं. इंग्लैंड में अपनी चिकित्सा के लिए जाने से पहले 25 अक्तूबर, 1817 को जॉर्ज एवरेस्ट के रूप में उसे सत्रह वर्षीय गणित और खगोलशास्त्र समझने वाला सहायक मिला.

एवरेस्ट गुणवत्ता के मामले में लैंबटन की प्रतिलिपि निकला. यही वजह है कि वह '78 डिग्री की महागाथा' का दूसरा नायक है.

लैंबटन कुछ स्वस्थ होकर इंग्लैंड से लौटा. उन दिनों तपेदिक का कोई पक्का इलाज न था. तपेदिक होते हुए भी वह काम के सिलसिले में लंबी-लंबी यात्राएं करता रहा. अंततः 20 जनवरी, 1823 की रात वर्धा और नागपुर के बीच हिंगनघाट गांव में लगे शिविर के अपने तम्बू में उसने प्राण त्याग दिए. वह भारत के इस भू-भाग में पृथ्वी का आकार नापने के काम में जी-जान से लगा रहा. इसकी योजना उसने खुद बनाई थी और सरकार से मंजूर कराई थी.

लैंबटन की मृत्यु के बाद 'ग्रेट ट्रिग्नोमेट्रिकल सर्वे' विभाग का योग्यता की दृष्टि से असली उत्तराधिकारी जॉर्ज एवरेस्ट ही हो सकता था और वही उसका मुखिया बनाया गया. उसके काम का लेखक ने विवरण इस तरह दिया है—*एवरेस्ट के साथ स्थानीय ग्रामीण लोग भी होते थे. वे इस बात से चकित थे कि आसपास के शेर-भालू-चीते कभी उसके शिविर के पास नहीं फटकते. अंधविश्वास का आलम यह कि वे मानने लगे कि एवरेस्ट के पास जरूर*

कोई देवी शक्ति है. ये लोग अनपढ़ थे, उनमें किसी वैज्ञानिक सोच का होना तो बहुत दूर की बात थी. एवरेस्ट जब दूरबीन लगाकर दूर पहाड़ पर मशाल को ढूंढ़ता या खगोलीय प्रेक्षण के दौरान आकाश में तारों को ढूंढ़ता तो आसपास के मजदूर सोचते कि वह स्वर्ग में बैठे देवी-देवताओं से संपर्क साधने की कोशिश कर रहा है. घनी दाढ़ी-मूंछों की वजह से वह वैसे ही संन्यासी जैसा लगता था. खबर आसपास के गावों तक फैल जाती कि कोई साधु जंगल में साधना के लिए आया हुआ है और आसपास के दीन-दुखियारी और बीमार वहां आकर भीड़ लगा लेते और उसकी थिओडोलाइट मशीन के आगे नतमस्तक हो जाते और एवरेस्ट से कृपा की आशा में उसके समक्ष लंबलोट हो जाते.

भारत में इस बल को मापने का उस समय न कोई यंत्र था और न सर्वेक्षण में इस बल के इस्तेमाल की कोई कोशिश हुई थी. लंदन जाकर जॉर्ज एवरेस्ट त्रिकोणीय प्रेक्षण के साथ-साथ गुरुत्वीय प्रेक्षण का हिमायती हो गया.

अपने बिगड़ते स्वास्थ्य के इलाज के लिए एवरेस्ट को लंदन आना पड़ा. एवरेस्ट लगभग पांच साल बाद 6 अक्टूबर, 1830 को भारत लौटा. अब वह न केवल 'ग्रेट ट्रिग्नोमेट्रिकल सर्वे' का मुखिया था बल्कि उसे 'भारतीय सर्वेक्षण विभाग'का महासर्वेक्षक भी बना दिया गया था. लैंबटन की तरह एवरेस्ट का जोर भी गुणवत्ता पर होता.

78 डिग्री देशांतर को, जिसे महत्तम चाप भी कहा जाता है, मापने की शुरुआत लैंबटन ने कन्याकुमारी से की थी और यह काम मैदान, पठार, जंगलों, पर्वतों, जल प्लावित क्षेत्रों, दलदलों, घनी बस्तियों आदि तरह-तरह के क्षेत्रों से होकर गुजरते हुए 1834 तक काफी पूरा हो चुका था. अब उसकी समापन आधार रेखा तय करने की बारी थी जिसके लिए एवरेस्ट ने देहरादून को चुना और मसूरी में डेरा डाल दिया.

काम का जुनून एवरेस्ट पर इस कदर सवार था कि उसे शादी करने की भी फुर्सत नहीं मिली. 17 नवंबर, 1846 को आखिरकार 56 वर्ष की उम्र में उसने एमा से विवाह किया. इसके कुछ ही महीने पश्चात् महत्तम चाप से संबंधित उसके संपूर्ण गणना कार्य और परिणाम प्रकाशित हुए. उसने पृथ्वी के आकार संबंधी स्थिरांक भी दिए जिन्हें एवरेस्ट स्थिरांक कहा जाता है. इन्हें भारतीय भूभाग में समस्त भौगोलिक कार्य जैसे मानचित्रण, समुद्र तल से ऊंचाई, दो स्थलों के बीच दूरी ज्ञात करने आदि में इस्तेमाल किया जाता है. उसने पृथ्वी के दो अर्द्ध मुख्य अक्ष की माप क्रमशः 6,477,301 और 6,356,100 मीटर बताई जो आज अंतरिक्ष प्रेक्षण में पाई गई माप से बहुत भिन्न नहीं है. इस तरह 1847 में जाकर यह काम समाप्त हुआ.

इस पूरे अभियान में 45 साल लगे जिस दौरान 2,500 किलोमीटर लंबे चाप (78 डिग्री देशांतर रेखा) को असाधारण परिशुद्धता के साथ नापा गया. एवरेस्ट स्थिरांक से विश्व के वैज्ञानिक समुदाय को काफी मदद मिली. इसी मान के आधार पर हिमालय की चोटियों की सही-सही ऊंचाई ज्ञात करना आसान हो गया. और तब 1850 में पता चला कि गणना-पुस्तिका में जिसे 'पीक-15' कहा गया है, वह सबसे ऊंची चोटी है. 1856 में इस चोटी का नाम ही माउंट एवरेस्ट रखा गया.

पूरी पुस्तक दिलचस्प वाकयों से भरी हुई है. इतिहास और रोमांचक किस्से-कहानियों के बीच विज्ञान के किस्सों को पढ़ना मजेदार अनुभव है. ऐसी रोचक व ज्ञानवर्धक किताबें निरंतर लिखी और पढ़ी जानी चाहिए.

❐

पुस्तक : महा अभियान की महागाथा 78 डिग्री
लेखक : अरुण कुमार असफल
प्रकाशक : सेतु प्रकाशन, दिल्ली
मूल्य : 599 रुपए

संपर्क : 305, प्रियदर्शनी अपार्टमेंट, पटपड़गंज, दिल्ली-110092
मो. : 9810889391

अभिनव सम्बोधन

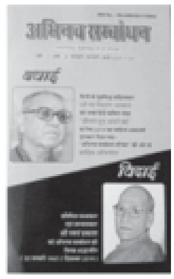

साहित्यिक त्रैमासिक
जनवरी-मार्च, 2020

इस अंक के रचनाकार

• जाबिर हुसेन, रूपसिंह चंदेल और सवाई सिंह शेखावत के स्थायी स्तम्भ • विशिष्ट कवि बोधिसत्व तथा हरजिंदर सिंह सेठी, सविता दास, सुनील गज्जाणी और राजूराम बीजारणियां की कविताएं • स्वयं प्रकाश और श्याम जांगिड़ की कहानियां • गोपाल शर्मा 'सहर' की डायरी • शताब्दी वर्ष में विख्यात कवि कन्हैयालाल सेठिया पर आलेख • मुरलीधर वैष्णव के दोहे • आभा सिंह का संस्मरण • संतोष सुपेकर की लघु कथाएं • बालमुकुन्द नंदवाना और उमाकंर सिंह की पुस्तक समीक्षाएं • समारोह रपट तथा साहित्यिक हलचल

आज ही सदस्य बनें
सहयोग : 500 रु., विशेष सहयोग : 1100 रु.
आजीवन : 5000

नये बनने वाले सदस्यों को 300 पृष्ठीय कथा विशेषांक की प्रति रजिस्टर्ड डाक से उपहार स्वरूप भेंट

सम्पर्क
मधुसूदन पाण्ड्या
सम्पादक : अभिनव सम्बोधन
'मनहर' 19-सी, मधुवन, उदयपुर-313001
मो. : 09414158400
ईमेल : abhinavsambodhan@gmail.com

मानवीय संवेदनाओं की त्रासदी का दस्तावेज

मीना बुद्धिराजा

परख

कहानी आज अगर साहित्य की केंद्रीय विधा के रूप में अपनी उपस्थिति दर्ज करा चुकी है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है. कहानी आख्यान में जीवन के एक खंड का चित्रण करते हुए भी जीवन की समग्रता को आत्मसात कर लेती है. इस अर्थ में कहानी का उद्देश्य जीवन को खंडित करना नहीं बल्कि एक अंश में उसकी संपूर्णता का और लघु में विराट का अह्सास कराना है तभी कहानी सार्थक बनती है. जीवन के व्यापक अंतर्विरोधों को गहरे समझते हुए कहानी सभ्यता और समय के संकट को उसकी उत्कटता में पकड़ती है. अतः कहानी अपने समय की वैचारिकी से एक जीवंत और नाजुक रिश्ता कायम करती है और यह संबंध किसी विचारधारा से आक्रांत नहीं, संवेदना बनकर कथाकार की मानवीय प्रतिक्रिया के रूप में सामने आता है. प्रत्येक रचनाकार अपने सृजन में समय की प्रवृत्तियों, दबावों और तनावों से मुठभेड़ करता है परंतु समकालीनता का कालबोध कभी भी रचनाकार की सीमा नहीं बनना चाहिए. वह रचनात्मक ऊर्जा लेते हुए भावबोध और शिल्प के स्तर पर अपने समय से जुड़ा रहकर भी भविष्य की संभावनाएं जरूर तलाश करता है.

समकालीन कथा-लेखन के परिदृश्य में मानवीय जीवन की सच्चाई को गहराई से स्पर्श करते हुए अपनी जीवंत-संवेदनशील अभिव्यक्ति के लिए 'प्रेम भारद्वाज' कहानी के चर्चित और सक्रिय हस्ताक्षर हैं. हिंदी कथा-संसार में समकालीन मनुष्य के एकांत और त्रासद यथार्थ की सर्वव्यापी पीड़ा को केंद्र में रखकर कथा लेखक 'प्रेम भारद्वाज' का नया कहानी-संग्रह 'फोटो अंकल' राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित हुआ है. इन कहानियों में कथ्य के स्तर पर अदृश्य-सी लगने वाली

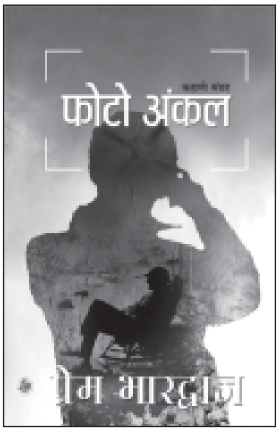

जीवन की वास्तविक कटु सच्चाइयों को उजागर करने का प्रयास है. इनमें एक प्रतिबद्ध रचनाकार का रूप स्पष्ट दिखाई देता है जो विषय वैविध्य में नई कथा-दृष्टि के साथ समकालीन पीढ़ी के कथाकारों में उन्हें एक अलग पहचान भी देता है. विचार और संवेदना के समवेत संतुलन से बुनी गई ये सभी कहानियां हमारे समय की क्रूरता और अमानवीयता की चुनौतियों से मुठभेड़ करती हैं. कथा-संरचना के पारंपरिक कथ्य और शिल्प से जिरह करती ये मार्मिक कहानियां पाठक की संवेदना को झकझोर देती हैं. इस संग्रह की सभी दस कहानियां जीवन के उसी व्यापक कैनवास से उठाई गई हैं लेकिन उसके संबंध में लेखक के अनुभव की मौलिकता, जीवन-यथार्थ की उसकी व्यापक पकड़ और भाषा-शिल्प की नवीन भंगिमा इन कहानियों को समकालीन कथा परिदृश्य में एक भिन्न आयाम देती है.

'प्रेम भारद्वाज' एक कहानीकार के रूप में काव्यात्मक संवेदना से समृद्ध रचनाकार हैं. जैसे वे कहानी को न दूर बैठकर देखते हैं न ही पाठकों से फासला रखते हुए सुनाते हैं. कथ्य और पात्रों को आत्मीय गहराई से अनुभव करते समूचे वजूद के साथ उसमें जज्ब हो जाते हैं. पहली कहानी 'फिजा में फैज' पुरानी पीढ़ी के साथ ही समाप्त हो चुके प्रेम की बहुमूल्य संवेदना की खोज, तड़प तथा निराशा और अवसाद की सघन छाया में छोटे-छोटे सुखों की तलाश करते चरित्र की कहानी है. बहुत तेजी से बदलती दुनिया में समय की रफ्तार में पीछे छूट गए लोग जिन्होंने जीवन और प्रेम को सच्चाई से समझने की कोशिश की लेकिन आज ये चरित्र समाज में अप्रासंगिक बना दिए गए हैं. अपने जीवन की त्रासदी को रेडियो के पुराने गीतों और संगीत से जोड़ने की दीवानगी बिना किसी नाटकीयता के सहजता से इस पीढ़ी की नियति का करुण चित्रण करती है.

एक ऐसे समय में जब भयावह हो रहे मानवीय संकट के बीच संवेदना और नैतिकता की खोज करना निरर्थक भ्रम है और रचनाकार की गहरी चिंता उस आत्मा के बचाव का जोखिम है जिसकी सत्ता को आज बाजार में झोंक दिया गया है. दूसरी कहानी 'था मैं नहीं' आज के समय और परिवेश में जेल से लेकर दफ्तर और टीवी के रियलिटी शो के विभिन्न दृश्यों का कोलाज बनाकर अलग-अलग परिस्थितियों में अपने वजूद के लिए आत्मसंघर्ष करते अतृप्त चरित्रों को उनके सही रूप में पहचानने की कोशिश करती है. जीवन की

अनिश्चितताएं, बेरोजगारी और भौतिक सुखों की भीषण लालसा सभी संबंधों की पारिवारिक संरचना को भीतर से कितना खोखला कर रही है, आज की इस त्रासद विडंबना को कहानी में बहुत बारीकी से उभारा गया है जिसके आरंभ में ही लेखक ने स्पष्ट किया है, 'इस कहानी के तमाम पात्र वास्तविक हैं. इनका कल्पना से कोई लेना-देना नहीं है.'

तीसरी कहानी 'प्लीज मम्मी, किल मी' स्थूल यथार्थ की सतह को तोड़कर मानवीय चेतना की गहराई में छिपे सत्य का साक्षात्कार कराने वाली मार्मिक कहानी है. एक मां जो दस साल से एक असाध्य बीमारी से जीवित लाश की तरह अस्पताल में चेतनाशून्य बेटे की तकलीफ, दर्द और लाचारी को सहन न कर सकते हुए अंत में उसकी इच्छामृत्यु की गुजारिश करती है लेकिन अपील अस्वीकार हो जाने पर वह जो निर्णय लेती है वो दिल दहलाने वाला और पाठक की संवेदना को झकझोर देता है. व्यवस्था की विसंगतियों में जहां लाखों किसान आत्महत्या कर रहे हैं, बेरोजगारी, अन्याय के शिकार युवा जो विक्षिप्त होने के लिए मजबूर हैं तो एक मां के लिए हत्या और आत्महत्या का फर्क करना नामुमकिन-सा हो जाता है. अगली कहानी 'कवरेज एरिया के बाहर' के केंद्र में एक संवेदनहीन समाज के बीच अलगाव, अकेलेपन, उपेक्षा, निरर्थकता और बेगानेपन की यंत्रणा को झेलते युवक कबीर की बेचैनी, विवशता और नाउम्मीद होकर आत्महत्या के निर्णय तक पहुंचने की त्रासदी है. सोशल मीडिया के आभासी मित्रों के संसार में स्थायी, सच्चे और आत्मीय संबंध की खोज में भटकते और टूटते मनुष्य की समस्या हमारे नए समय की जीती-जागती वास्तविकता है.

अपने समय और समाज से पूरी तरह जुड़ी कहानी में सच्चाई तटस्थ नहीं बल्कि हमेशा मानवता की पक्षधर के रूप में उपस्थित होती है. वह एक बेहतर मनुष्य के समाज का स्वप्न देखती और बहस करती है. शीर्षक कहानी 'फोटो अंकल' इसी व्यापक कैनवास पर लिखी गई इस संग्रह की केंद्रीय-सशक्त कहानी है जो एक संवेदनशील रचनाकार के महसूस किए गए दर्द की छटपटाहट भरी अभिव्यक्ति है. 1984 की 'भोपाल गैस त्रासदी' के दौरान जब इंसान क्षणों में लाशों में तबदील हो रहे थे उस समय प्रसिद्ध भारतीय फोटोग्राफर 'रघु राय' द्वारा एक छोटे बच्चे के शव को दफनाते समय खींची गई दर्दनाक तस्वीर और उससे जुड़ी घटना पर आधारित है. इस फोटो ने फोटोग्राफर को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति और सम्मान दिलाया लेकिन उसके अंदर का अपराधबोध और पश्चाताप उसे चैन से नहीं जीने देता और अपनी सारी कला और प्रसिद्धि उसे निरर्थक लगने लगती है. कहानी रोचक और रहस्यमय तरीके से न्याय के लिए भटकते बच्चे की फैंटेसी का प्रयोग करके उस त्रासदी के शिकार और पीड़ित लोगों की यंत्रणा और समाज, राजनीति, सत्ता, मीडिया और न्याय व्यवस्था की नाकामी जिसने उस बहुराष्ट्रीय कंपनी को खुलेआम बख्श दिया. इन सभी संदर्भों में आज की भ्रष्ट और विसंगत व्यवस्था पर भी कहानी बहुत से असुविधाजनक सवाल उठाती है जिनका जवाब किसी के पास नहीं है. कला और समाज के अंतर्विरोधों और कला-साहित्य की सामाजिक उपयोगिता की बहस को उठाते हुए यह कहानी दोनों के संबंध को कई कोणों से दिखाने का गंभीर प्रयास भी करती है.

पुरुषसत्ता में घर-परिवार के सभी कर्तव्य और मर्यादा को निभाते और सुख-सुविधा से भरे जीवन में भी उसकी स्वतंत्र अस्मिता और स्वप्नों का आकाश सामने है जिसमें वह अपने लिए निर्धारित सभी बंधन तोड़कर उड़ना चाहती है. इस दृष्टि से 'पिंजड़े वाली मुनिया' और 'सूने महल में' कहानियां उल्लेखनीय हैं. यहां अभिव्यक्त रूमानीपन यथार्थ से पलायन का नहीं बल्कि स्त्री के लिए क्रूर यथार्थ से मुक्ति का व्यंजक है जो कहानी को मौलिक बनाता है.

आत्मनिर्वासन का त्रासद स्वर इन कहानियों की विशिष्ट पहचान है जो एक स्वप्नदर्शी समाज की तलाश करने का जोखिम उठाता है. इस दृष्टि से अत्यंत मार्मिक कहानी 'शब्द भर जीवन उर्फ दास्तान-ए-नगमानिगार' आज के स्थूल और चकाचौंध से भरे यथार्थ की परतों के नीचे दबी भावना और संवेदना का वह आदिम राग है जो एक धुन की तरह उठते हुए द्रुत से विलंबित की यात्रा करती है. कहानी के केंद्र में दिल्ली जैसे निर्मम महानगर में एक बहुत संजीदा कवि और साहित्यकार का चरित्र है जो आज के भौतिक, आत्मकेंद्रित और अवसरवादी समय में प्रासंगिक नहीं रह गया है. यहां मुख्य चरित्र के रूप में संवेदनशील कवि यथार्थ के बहुत निकट लगता है जिन्हें छद्म और पाखंड नहीं आता, जो व्यावहारिक नहीं और सफलता के तंत्र को कभी नहीं साध पाता. उनकी बेचैनी, वैचारिक और आत्मिक संघर्ष को कहानी में अंकित करने की लेखन ने विलक्षण कोशिश की है और एक 'ट्रैजिक' अंत के साथ पाठक को भी कहानी झकझोर देती है. कहानी में बीच-बीच में गुरुदत्त, मुक्तिबोध, निराला, भुवनेश्वर और स्वदेश दीपक, गोरख पाण्डे के प्रसंग कहानी के दर्द का विस्तार करते हुए अपनी अमिट विरासत के साथ एक अदृश्य वेदना को भी पाठक के साथ छोड़ जाते हैं.

समकालीन सत्ता-संरचना और उसके

तंत्र के तमाम प्रपंचों और कुटिल अवसर-वादिता को कहानी 'कसम उस्ताद की' बहुत बेबाकी और व्यंग्य के धारदार तरीके से खोलती है. साधारण जनता लक्ष्यहीन राजनीति और लोकतंत्र के इस तमाशे में सिर्फ एक मोहरा है और इस व्यवस्था के दुःस्वप्न का निरतंर टूटना मुश्किल है. समाज को सुंदर बनाने और दुनिया को बदलने का स्वप्न और अपने वजूद के लिए संघर्ष प्रत्येक युग और व्यवस्था में देखा जाता है जो प्रतिरोध के रूप में चेतनाशील युवा मन को बार-बार लड़ने के लिए प्रेरित करता है. लेकिन समाज और सत्ता की मारक क्षमता का शिकार बनते सपने, भयानक आत्मसंघर्ष और विफल आकांक्षा हमेशा अस्तित्व को कुचलकर उसके भविष्य को गहन अंधकार तक पहुंचा देती हैं. अंतिम कहानी 'मकतल में रहम करना' व्यवस्था के जानलेवा तंत्र के मर्मांतक और भयावह माहौल में कथानायक के आत्मस्वीकार की कहानी है जो फांसी पर चढ़ने से पहले अपने जीवन का विश्लेषण पाठक के सामने रख देता है. वह विचारों के साथ जीने की कल्पना करता और चांद को जमीन पर लाने की जिद और बेचैनी. नॉस्टेल्जिया यहां तल्ख सच्चाइयों के रूप में सामने आता है. अन्याय से लड़कर इस फूहड़, ताकत और शोषण पर बनी असहनीय दुनिया को जीने लायक बनाने का जुनून और दिल में आग भी एक जख्म की तरह पूरा सफर जिसमें टूटते सपने और सिर्फ मां के आंसू और दर्द ही आखिर तक साथ रहे और मां की गुजारिश कि बेटे को फांसी देते समय उसे ज्यादा दर्द न हो. लेकिन अंत में वधस्थल में—''ठीक जिस क्षण वह रोशनी के बारे में सोच रहा था. उसके चेहरे को काले कपड़े से ढक दिया गया.'' यहां कहानी पाठक को नाउम्मीद, और झकझोर कर निस्तब्ध सोचने के लिए विवश खामोश छोड़ देती है. यथार्थ और स्वप्न के 'कन्ट्रास्ट' से उपजा द्वंद्व और तनाव इस कहानी की संवेदना और भाषा सभी जगह व्याप्त है.

यह कहानी-संग्रह पारदर्शी संवेदना के साथ समकालीन कथा-लेखन के एक बड़े अंतराल को भरता है जिसमें निर्मम यथार्थ की भावात्मक प्रतिध्वनियां सुनी जा सकती हैं. कई अर्थों में हमारे समाज और समय की चिंताओं को बहुआयामिता से जानने के लिए वैचारिकता के साथ ही जीवन के लिए प्रेम, उम्मीद और राग को बचा लेने की कोशिश इन कहानियों की विशिष्ट उपलब्धि है.

निस्संदेह वर्तमान के क्रूर यथार्थ और खौफनाक होते समय में तमाम हताशा, भय, अवसाद और विकल्पहीनता के बीच भी भविष्य की उम्मीद और बदलाव के लिए संभावनाएं हो सकती हैं क्योंकि प्रतिबद्ध नैतिक रचनाकार अपने शब्दों पर भरोसा करना कभी नहीं छोड़ सकता जो अंततः मानव की बुनियादी अस्मिता को बचा लेते हैं.

इस दृष्टि से मनुष्य की आंतरिक और सामाजिक चेतना के धरातल पर यह कहानी-संग्रह जीवन और रचना के अंतर्संबंधों की गहरी शिनाख्त करता है तथा समकालीन कथा-लेखन परिदृश्य की महत्वपूर्ण उपलब्धि माना जा सकता है.

❒

पुस्तक : फोटो अंकल
लेखक : प्रेम भारद्वाज
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
मूल्य : 125 रुपए (पेपरबैक)

संपर्क : सह-प्रोफेसर, हिंदी विभाग, अदिति महाविद्यालय, बवाना, दिल्ली-39
दिल्ली विश्वविद्यालय
मो. : 9873806557
ईमेल : meenabudhiraja67@gmail.com

रामवीर की ग़ज़ल

हकीकत कहने की कर के मनाही
कहा साबित करो अब बेगुनाही

अदालत और मुंसिफ दोनों उनके
सजा पाएगी पक्का बेगुनाही

सचाई हो गई बेवा बिचारी
जज ने सच मान ली झूठी गवाही

अंधेरों से लड़े सूरज भी कब तक
फलक पर इतनी फैली है सियाही

सियासत ने किया माहौल ऐसा
कि चोरों से लगे डरने सिपाही

है मुश्किल मंजिलें मकसूद पाना
जहां खुद जान कर भटका हो राही

गए थे जो कभी सत्याग्रहों में
मिले कल वे हमें करते उगाही

खिजां को कोसना है बेइमानी
वजह हो बागबां की जब कोताही

हमें था शौक रौनक देखने का
मगर किस्मत ने दिखलाई तबाही

वही अच्छे रहे जो चल बसे हैं
बुला ले अब हमें भी या इलाही

गजल कहने का तब ही फायदा है
तहे दिल से अगर जाए सराही

❑

संपर्क : 86, सैक्टर 46,
फरीदाबाद-121010
(हरियाणा)
मो. 9911268186

अनूठी रचनात्मक उपलब्धि

असीम अग्रवाल

परख

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में नॉर्वेन भाषा मे छपी जॉस्टिन गार्डर कृत 'सोफिज वेर्डेन' नामक पुस्तक ने थोड़े ही समय में सुधी पाठकों का ध्यान आकर्षित किया था. दो वर्षों के भीतर अंग्रेजी में अनूदित होकर 'सोफिज वर्ल्ड' नाम से प्रकाशित यह पुस्तक 'गार्डियन' में 'अद्‌भुत रूप से मूल्यवान' य 'संडे टाइम्स' में 'एक असाधारण उपलब्धि' और 'टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट' में 'एक विचित्र एवं अद्‌भुत पुस्तक' रूपी प्रशंसात्मक टिप्पणियों के कारण सर्वाधिक प्रसिद्ध हुई. उसके बाद संसार की विभिन्न भाषाओं में इसका अनुवाद होने लगा. इसी प्रक्रिया में राजकमल प्रकाशन ने इसे 'सोफी का संसार' शीर्षक से प्रकाशित किया. अनुवाद के उत्तरदायित्व का निर्वहन प्रो. सत्यपाल गौतम ने किया.

'सोफी का संसार' मूलतः पाश्चात्य दर्शन यात्रा का विवेचन है जिसे रहस्यमयी उपन्यास के रूप में लिखा गया है. रचनाकार दोनों ही आयामों–अपनी विषयवस्तु की गहरी समझ और उसे संजोने के कलात्मक कौशल में सफल रहा है. इस संदर्भ में अनुवादक ने सार्थक टिप्पणी की है, "इस पुस्तक में तीन विशिष्ट मानवीय क्षमताओं, स्मृति (इतिहास), कल्पना (गल्प) तथा विवेक (दर्शन) का ताना-बाना अनूठे ढंग से बुना गया है." इस किताब में दो उल्लेखनीय विशिष्टताएं दृष्टिगोचर होती हैं. पहली, आलोच्य पुस्तक अमूमन प्रथम दार्शनिक समझे जाने वाले सुकरात से पहले किये गए चिंतन से लेकर बिग बैंग थ्योरी तक के दर्शन के सफर का आख्यान इसमें समाहित है. आदिम सवालों से लेकर अत्याधुनिक जिज्ञासाओं तक के लम्बे विवेचन को सीमित पृष्ठों में समेटा गया है जबकि दर्शनशास्त्र का परिचय देने वाली पुस्तकों के साथ आम समस्या यही रहती थी कि या तो वे जरूरत से ज्यादा बड़ी हो जाती थी या फिर कम पृष्ठों में इतने बड़ी विषयवस्तु को समेटने में नाकाम रहती थीं. दूसरी, पाश्चात्य दर्शन की दीर्घ यात्रा के अंकन में रचनाकार कहीं भी तथ्यों या स्थूल जानकारियों के बोझ से पुस्तक को बोझिल नहीं होने देता बल्कि उन मूल प्रश्नों से टकराता है जिन पर बहुत पहले से विचार किया जाता रहा है और जो आज भी विचारणीय हैं. आम तौर पर बोझिल व दुरूह समझे जाने वाले दार्शनिक चिंतन को डायरी, संस्मरणात्मक और पत्रात्मक - शैली के प्रस्तुतिकरण से पैदा हुई रोचकता इसे अपने क्षेत्र की अन्य पुस्तकों से भिन्न बनाती है. पुस्तक एक चौदह वर्षीय विद्यार्थी सोफी के नाम आने वाले गुप्त पत्रों के रूप में लिखी गई है. सोफी उन पत्रों को पढ़ती है और संसार को देखने से होने वाले परिवर्तनों से पैदा हुई ऊहापोह पाठक को जिज्ञासु बनाये रखती है.

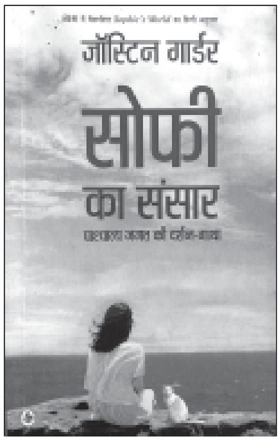

यह अनायास नहीं है कि मुख्य पात्र का नाम सोफी है. 'सोफी' अथवा 'सोफिया' यूनानी भाषा का शब्द है. इसका प्रयोग पाश्चात्य दर्शन की प्रत्येक परिचयात्मक पाठ्यपुस्तक में दर्शन की प्राथमिक परिभाषा या परिचय देने के लिए किया जाता है. दर्शन को अंग्रेजी में 'फिलोसॉफी' कहा जाता है जो 'फिलो - सोफी' रूपी दो शब्दों के योग से बना है. 'सोफी' का अर्थ है बुद्धिमता और 'फिलो' से तात्पर्य प्रेमी से लिया जाता है . अतः बुद्धिमता से प्रेम ही 'फिलोसॉफी' है. 'सोफी का संसार' इस प्रकार बुद्धिमता की दुनिया ठहरती है. इसी को ध्यान में रखते हुए रचनाकार ने ऐसा किया है. यहां यह भी पता चलता है कि रचनाकार ने प्रस्तुति को भले ही रोचक करने के लिए बहुत मेहनत की है पर इस पूरे उपक्रम में उसने मूल ध्येय से छेड़छाड़ नहीं की. मूल उद्देश्य दर्शन व अपने नियतिजन्य प्रश्नों के प्रति जागरूकता पैदा करना था. इसी से रचनाकार ने इतनी ज्यादा एहतियात बरती है कि छोटे से छोटे पक्ष पर पूरा ध्यान रखा है. प्रतीकात्मक शीर्षक इसका प्रमाण है.

पुस्तक पैंतीस अध्यायों में विभक्त है. इस वर्गीकरण का आधार बिंदु दर्शन-यात्रा के पड़ाव हैं. कई अध्यायों के शीर्षक भीतर की विषयवस्तु के प्रतिनिधि हैं (जैसे 'ईडन की बगिया : किसी क्षण अवश्य ही कुछ शून्य से निकलकर आया होगा'; 'जादुई टोपी : अच्छा दार्शनिक होने के लिए हमें चाहिए सिर्फ विस्मित होने की क्षमता'; 'पौराणिक कथाएं/मिथक : अच्छाई और बुराई की शक्तियों के बीच अनिश्चित अस्थिर संतुलन' आदि), तो कई अध्याय

दार्शनिकों के नाम और रखे गए हैं (जैसे 'सुकरात : सबसे बुद्धिमान वह स्त्री है जो यह समझती है कि उसे कुछ नहीं मालूम'; 'कांट : मेरे ऊपर सितारों भरा आकाश और मेरे भीतर नैतिक नियम'; 'मार्क्स : एक प्रेत यूरोप का पीछा कर रहा है' आदि) अध्यायों के शीर्षकों की सारगर्भिता ही पुस्तक की गहराई को दर्शाने के लिए पर्याप्त है.

पुस्तक की प्रासंगिकता का गहरा संबंध इसके सृजन की प्रेरणा से संबद्ध है. इसी से प्रेरणास्रोत को जानना अपरिहार्य है. पुस्तक के लेखक जॉस्टिन गार्डर नॉर्वे के एक कॉलेज में दर्शनशास्त्र के अध्यापक थे. अपने कर्म के प्रति समर्पित शिक्षक के लिए अपने विषय के प्रति बढ़ रही अरुचि को देखना चिंताजनक था. इसी के समाधान के लिए उन्होंने अपनी एक कक्षा में विद्यार्थियों से पूछा कि आप लोग क्या पढ़ना पसंद करते हैं? छात्रों का उत्तर रहस्यमय उपन्यास था. वहीं से गार्डर ने यह पुस्तक लिखने की प्रेरणा प्राप्त की. इस पूरी कथा में ही इसकी प्रासंगिकता व महत्त्व का सूत्र छिपा है. अत्याधुनिकता के नाम पर भौतिक सुख-सुविधाओं से आच्छादित होते संसार के पास गहन प्रश्नों के लिए सोचने-विचारने का न तो समय ही है और न ही वह ऐसा करना ही चाहता है. ऐसे में वह दुनिया का अभ्यस्त होता जाता है और इस दुनिया के प्रति आश्चर्य का भाव गायब होता जा रहा है. जबकि लेखक के ही शब्दों में कहा जाए तो 'विस्मित होने की क्षमता' आवश्यक प्रवृत्ति है. और इसी को बरकरार रखने के लिए इस तरह की पुस्तकों की आवश्यकता है ताकि हम अपने होने को सोच सकें और किसी रचनाकार को विवश होकर यह न लिखना पड़े—"आदमी मरने के बाद कुछ नहीं सोचता/आदमी मरने के बाद कुछ नहीं बोलता/कुछ नहीं सोचने और कुछ नहीं बोलने पर/आदमी मर जाता है." (उदय प्रकाश)

❐

पुस्तक : सोफ़ी का संसार : जस्टिन गार्डर (सोफ़िज वर्ल्ड' का हिंदी अनुवाद)
अनुवादक : प्रो. सत्यपाल गौतम
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
मूल्य : 399 रुपए

संपर्क : हिंदी विभाग, आर्ट्स फैकल्टी, छात्र मार्ग, यूनिवर्सिटी एनक्लेव, उत्तरी परिसर, नई दिल्ली-110007
मो. : 8750477991
ईमेल : aseemagarwal24@gmail.com

लघुकथा

आत्मनिर्भरता

रंजना फतेपुरकर

शर्मा दंपती पुत्र का पत्र हाथ में लिए चिंतित बैठे थे. पुत्र ने लिखा था अब उसने विदेश में ही बसने का निर्णय ले लिया है.

शर्मा जी पत्नी से बोले—"अभी तक तो मैं घर के सारे काम कर लेता था. बिजली, टेलीफोन के बिल, घर के सारे टैक्स.लेकिन अब तबियत साथ नहीं देती. अनियमित ट्रैफिक की वजह से बाहर जाने में घबराहट होती है. बेटी भी तो दूसरे शहर में है. उसका भी बार-बार आना संभव नहीं. फिर भी समय निकालकर हमारी जरूरतें पूछकर जाती है. बेटे से उम्मीद थी कि विदेश से लौटकर साथ रहेगा तो घर और हम दोनों को संभाल लेगा. लेकिन अब जिंदगी मुश्किल नजर आ रही है."

पत्नी ने फोन करके बेटी को समस्या बताई, बेटी तुरंत आई और बोली—"आप चिंता न करें. वैसे तो मैं हूं पर आप भी किसी पर निर्भर न रहें, इसकी व्यवस्था मैं कर देती हूं."

बेटी ने तुरंत एक लैपटॉप खरीद दिया और शर्मा जी को ऑनलाइन सारे बिल जमा करना सीखा दिए. अब वे अपना जरूरत का सामान भी घर बैठे ही मंगवा सकते थे. शर्मा जी बैंक से रिटायर हुए थे, कंप्यूटर की उन्हें काफी जानकारी थी. वो जल्दी ही सब सीख गए.

शर्मा दंपती की जिंदगी अब आसान हो गई. वे पत्नी से बोले—"हमें उनका धन्यवाद देना चाहिए जो साथ छोड़ गए और आधुनिक तकनीक का भी. परिस्थितियों ने एक सिख दी है वो है आत्मनिर्भरता."

❐

संपर्क : 3, उत्कर्ष विहार
मनीषपुरी, इंदौर 18
मो. : 98930 34331
ईमेल : ranjanafattepurkar29@gmai

थप्पड़

तसलीमा नसरीन

शब्दवेधी/शब्दभेदी

आजकल अखबारों में मशहूर लोगों के तलाक के बारे में खूब पढ़ती हूं. तलाक होने के बाद हम जान पाते हैं कि पति-पत्नी में संपर्क अच्छा नहीं था. डिवोर्स होने से पहले हमें लगता है, वे आदर्श दम्पति, सुखी दम्पति हैं. तो क्या आदर्श, सुखी दम्पति बोलकर कुछ नहीं हैं? निश्चित ही हैं. लेकिन पुरुषतांत्रिक समाज में आदर्श सुखी दम्पति की तस्वीर कुछ ऐसी है—पति सुखी है, इसलिए पत्नी पुरुषतांत्रिक नियमानुसार खुद को सुखी समझती है. असल में सुखी होने का भान करती है. गृहस्थी में यदि स्त्री अपनी सारी आशा, आकांक्षाओं को तिलांजलि दे, पति की आशा, आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए जो कुछ करना है करती रहे, तभी पति खुश होता है. औरतों के दिमाग में जन्म के बाद से ही घुसा दिया गया है कि पति का सुख ही स्त्री का सुख है. स्त्री का पृथक अस्तित्व, स्वप्न, सुख होने का कोई अर्थ नहीं. सचमुच में सुखी होने का प्रयोजन किसी स्त्री को नहीं है.

पिछले दिनों 'थप्पड़' नाम की नई फिल्म देखी. ठीक इसी विषय को निर्देशक अनुभव सिन्हा ने इस फिल्म में दिखाया है. एक शिक्षित लड़की अपनी सारी आशा-आकांक्षाओं का विसर्जन कर, मन लगाकर ट्वेंटी फोर सेवेन अपने पति की, सास की सेवा कर रही होती है, घर संभाल रही है. फिर एक दिन पति का जोरदार थप्पड़ खाने पर उसके दिमाग की बत्ती जलती है. उसे तब समझ में आता है, जिसके लिए उसने अपने जीवन को उत्सर्ग कर दिया, उसका थप्पड़ खाना पड़ता है तो किसी दिन उसकी लात-झाड़ू भी खानी पड़ सकती है. तभी वह अपने पति को तलाक देने का फैसला करती है.

जो औरतें हाउस वाइफ नहीं हैं, बकायदा आत्मनिर्भर हैं, उन्हें भी यह सब अत्याचार सहना पड़ता है. वे भी तलाक लेने के लिए बाध्य होती हैं. जिस स्त्री का थोड़ा भी आत्मसम्मान है, उसके लिए उस पुरुष के साथ रहना, जो पुरुषतांत्रिक समाज व्यवस्था पर घोर विश्वास रखता हो, कतई संभव नहीं. असल में पुरुषतांत्रिक समाज तो इसी मंत्र से लड़कों को बड़ा करता है कि वह राष्ट्र, समाज एवं परिवार का अमूल्य संपद है. इसलिए अमूल्य संपद की देखभाल का जिम्मा घर की औरत पर ही आ पड़ता है. नतीजतन औरतें उस संपद की सेविका के रूप में चिह्नित होती हैं. यह अमूल्य संपद जब विवाह बंधन में आबद्ध होता है, चाहे वह चोर हो या गुंडा, उसकी देखभाल का जिम्मा पत्नी पर आ जाता है. औरत चाहे आत्मनिर्भर हो या परनिर्भर, जिम्मेदारी एक-सी ही है.

जो पति अत्याचारी है, मानसिक पीड़ा देने वाला है, जो पत्नी से प्यार नहीं करता, उसकी अवहेलना करता है, उसको नीचा दिखाता है, वो उसे घर की नौकरानी के अलावा, बच्चे पैदा करने वाली और उनका लालन-पालन करने वाली के अलावा कुछ और नहीं समझता है. ऐसे पुरुषों को वो औरतें ही तलाक दे रही हैं, जो आत्मसम्मान के साथ जीवित रहना चाहती हैं. परंतु आत्मसम्मान के साथ जीवित रहना बहुत कम औरतें ही चाहती हैं. जन्म के बाद से ही उन्हें इस तरह बड़ा किया जाता है, चाहे और जो कुछ भी रहे, आत्मसम्मान नाम की चीज न रहे. पुरुष में जो चीज रहनी अच्छी है वो स्त्री में रहना खराब है. पुरुष में आत्मसम्मान रहना जरूरी है स्त्री में रहना उचित नहीं. पुरुषों में गुस्सा होता है लेकिन नारी में बिल्कुल नहीं होना चाहिए. पुरुष का पारिवारिक होना जरूरी नहीं, औरत को आवश्यक रूप से होना चाहिए. पुरुष के लिए खाना पकाना, बच्चों का पालन-पोषण करने का प्रश्न ही नहीं उठता है, यह सब तो औरत का काम है. पुरुष को चालाक-चतुर होना चाहिए, औरतों का ज्यादा चालाक-चतुर होना शोभा नहीं देता. पुरुष को अपने कर्मस्थल में उन्नति करनी ही चाहिए, उन्नति के पीछे औरतों को नहीं दौड़ना चाहिए. पुरुष फैसला लेगा विवाहित जीवन में क्या करना और क्या नहीं करना है और स्त्री को उस फैसले को मान कर चलना होगा. पुरुष या नारी में से अगर किसी को जॉब छोड़नी पड़े या घर के बाहर के कामों को छोड़ना पड़े, तो किसकी तरफ उंगली उठती है, किसको सब कुछ छोड़ना पड़ता है, किसको घर में रहकर घर के काम-काज करना, बच्चों की देखभाल करने का काम दिया जाता है? औरत को बाकी रुपए कमाने की क्षमता की जिम्मेदारी निःसंदेह आदमी की ही होती है.

थप्पड़ फिल्म में अनुभव सिन्हा यह कहना चाहते हैं, औरतें अगर आत्मसम्मान

के साथ जीना चाहती हैं तो आधे से ज्यादा औरतों को पति का त्याग कर देना होगा. परिवार इसलिए टिके हुए हैं क्योंकि आत्मसम्मान के साथ जीना औरतों ने नहीं सीखा और वे चाहती भी नहीं.

उच्चपद पर कर्मरत या कुछ स्वावलंबी महिलाओं ने पति को तलाक देने का साहस दिखाया है. यदि आत्मसम्मान के साथ जीना चाहतीं, पुरुषों की तरह औरतें भी अपनी आशाओं, आकांक्षाओं, सपनों, इच्छाओं को प्राथमिकता देतीं, तो लगभग सभी औरतों को शायद परिवार का त्याग करना पड़ता. पुरुषतांत्रिक नियमों पर चलने वाला कोई भी परिवार वैषम्यहीन नहीं है. इस नियम को तोड़ देने से जरूर बिना विषमताओं के संबंध बन सकते हैं. पुरुष और नारी दोनों ही अपने सपनों, ख्वाहिशों को पूरा करने की कोशिश करेंगे. घर साफ रखना, सजाना, खाना पकाना, बच्चों की देखभाल, बागवानी इत्यादि आपस में बांट लेंगे. इन कामों को अक्सर गैरजरूरी कामों में गिना जाता है, क्योंकि ये काम औरतें करती हैं. करने दें यह काम पुरुषों को, काम का भाव बढ़ जाएगा.

मैंने जब तलाक दिया था, अकेला रहना शुरू किया था, लोग थू-थू करते थे. पिछले तीस सालों में लोगों ने और बहुत तलाक देखे हैं, काफी अभ्यस्त हो चुके हैं. अस्सी के दशक में मुझसे जिस भाषा में गाली-गलौज की गई थी, अब उस तरह गाली-गलौज करना लगभग बंद हो गया है. लेकिन बिल्कुल बंद तो नहीं हुआ है. मनुष्य जितना सभ्य होगा उतना ही तलाक का अभ्यस्त होगा.

जब इंसान शादी करता है, तब जिस तरह की जिंदगी के बारे में मन में उसने सोचा होता है, वैसा नहीं भी हो सकता है. सिर्फ औरत ही नहीं पुरुष भी इस चाहने-पाने में पिस जाते हैं. मैंने अपने दोनों बड़े भाइयों के मामले को ही देखा है, निष्ठुर, निर्मम पत्नी के साथ जीवन बिताते हुए. देश में ऐसे उदाहरण बहुत कम ही देखने को मिलते हैं. अधिकांश महिलाएं ही भुगतती हैं. वे ही चुप रहती, सहन करती, त्याग करती, थप्पड़ खाती हैं, सिर्फ पति से ही नहीं, सबसे.

नारीवादी नेत्री सुमन बी. एंथनी ने कहा था, 'पति को पत्नी द्वारा तलाक देना बहुत कुछ बर्बर मालिक से क्रीतदासियों का मुक्ति पाने जैसा है.' क्रीतदास प्रथा बंद होने से हम खुश होते हैं. लेकिन पत्नी अगर पति को छोड़ देती है तो हम खुश क्यों नहीं होते? यह एक बड़ा प्रश्न है. यहीं छुपा हुआ है पुरुषतांत्रिक समाज व्यवस्था को मानकर चलने के लिए मगजधुलाई किया हुआ दिमाग. धुलाई किए हुए मगज की धुलाई से पहले की अवस्था में वापस ले जाना होगा. इसके अलावा कोई उपाय नहीं.

सीधी और साफ बात है, पुरुषतांत्रिक समाज में वैषम्यहीन परिवार तैयार करना संभव नहीं. यदि कोई संभव करना चाहे तो उसे व्यक्तिगत तौर पर पूरी तरह से पुरुषतंत्र से मुक्त होना पड़ेगा. पुरुषतंत्र नारी-पुरुष के बीच की विषमता के जड़ से फला-फूला है. इस विषमता को विदा करने के लिए जिस तरह सम्मिलित संघर्ष की जरूरत है, उसी तरह पुरुषतंत्र के गंध-स्पर्श के बिना व्यक्तिगत जीवनयापन करने की भी जरूरत है.

जो औरतें एक बार अत्याचार सह लेती हैं, वे फिर बार-बार अत्याचार सहने की अभ्यस्त हो जाती हैं. जिसका एक थप्पड़ से दिमाग नहीं खुला, उसका सौ थप्पड़ों से भी नहीं खुलेगा. बोध-बुद्धिसंपन्न लोगों का दिमाग खुलना बहुत जरूरी है. पुरुषतंत्र के नागपाश से सिर्फ औरत को ही नहीं, पुरुष को भी निकलकर आना होगा. विषमताओं से भरपूर, पूरी तरह से सड़ी-गली, पुरानी समाज व्यवस्था को जकड़े रहना पुरुष के लिए भी कतई सम्मानजनक नहीं.

❐

बांग्ला से अनुवाद—अमृता बेरा

ईमेल : amrujha@gmail.com

लघुकथा. कॉम
www.laghukatha.com

अंक : अप्रैल, 2020

देश : शोभना श्याम, सुरेश बाबू मिश्र, निरुपमा अग्रवाल, शशि भूषण मिश्र, संतोष सुपेकर, जयमाला और पल्लवी त्रिवेदी
देशांतर : छलांग और छलावा : फर्ज करंघी (अनुवाद : सुरजीत)
संचयन : प्रदीप मिश्रा
भाषांतर : पंजाबी : उल्लूनामा (अनुवाद : योगराज प्रभाकर)
मेरी पसंद : कस्तूर लाल तागरा
ऑडियो : चार हाथ : जानकी वाही (स्वर : ऋतु कौशिक)
दस्तावेज : समकालीन जीवन-स्थितियों के अनुभूति-स्पंदित क्षणों की तलाश : प्रेम शशांक
अध्ययन कक्ष : हिंदी लघुकथा में भाषा का महत्त्व : कल्पना भट्ट
पुस्तक : कथा समय (संपादक-अशोक भाटिया) पर राधेश्याम भारतीय
प्रकाशन : अविराम साहित्यिकी संपादक : उमेश महादोषी, अंक जनवरी-मार्च 2020
लाइन हाजिर (लघुकथा संग्रह) : माता प्रसाद शुक्ल
चर्चा में : नवजन्मा (रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु') पर प्रो. बी.एल. आच्छा
laghukatha89@gmail.com
संपादक : सुकेश साहनी
रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु'
प्रकाशक : रीता साहनी
185, उत्सव, महानगर पार्ट-2
बरेली-243006
अभिकल्प—सुशान्त काम्बोज
Developed and designed : Hans India.com

रेतघड़ी

हम देखेंगे

(सीएए–एनआरसी–एनपीआर के विरोध में लेखकों-कलाकारों का अखिल भारतीय सम्मेलन)

नागरिकता संशोधन कानून, एनपीआर और एनआरसी के विरोध में लेखकों, कलाकारों व संस्कृतिकर्मियों का सम्मेलन 1 मार्च को दिल्ली के जंतर-मंतर पर आयोजित हुआ. 'हम देखेंगे' के नारे के साथ आयोजित इस लेखक कलाकार कन्वेंशन में हिंदी, अंग्रेजी, मलयालम, तेलुगू समेत विभिन्न भारतीय भाषाओं में लिखने व काम करने वाले सैकड़ों लेखक-कवि-संस्कृतिकर्मी शामिल हुए. देश भर के बुद्धिजीवियों का एकजुट होकर सड़क पर उतरने का ऐसा दृश्य आपातकाल विरोधी आंदोलन के दौर के बाद पहली बार दिखाई पडा.

जनवादी लेखक संघ, दलित लेखक संघ, जन संस्कृति मंच, प्रगतिशील लेखक संघ, इंडियन कल्चरल फोरम, दिल्ली विज्ञान मंच, जन नाट्य मंच, जनसंस्कृति, न्यू सोशलिस्ट इनिशिएटिव, आल इंडिया पीपुल्स साइंस नेटवर्क, संगवारी, प्रतिरोध का सिनेमा और विकल्प के सामूहिक प्रयास से हुए इस आयोजन का उद्देश्य था, देश भर में चल रहे सीएए-एनआरसी-एनपीआर विरोधी आंदोलनों के साथ एकजुटता जाहिर करना. इसमें कवियों ने अपनी कविताएं सुनाई, गायन व सांस्कृतिक टीमों ने नाटक व गीत प्रस्तुत किए. जन नाट्य मंच, जनसंस्कृति (मलयाली), संगवारी थिएटर ग्रुप आदि ने सांस्कृतिक प्रस्तुतियां दीं. 'जनाना कलेक्टिव' ने 'जनाना का जमाना' नामक बेहद प्रभावशाली नाट्य प्रस्तुति दी.

अरुंधति राय ने अपने जाने-पहचाने अंदाज में बिना किसी लाग-लपेट के लेखकों-कलाकारों के सड़क पर आने की जरूरत और महत्व को रेखांकित किया. सीएए-एनपीआर-एनआरसी का उद्देश्य उन्होंने 'लोगों को केवल भारत में ही नहीं, बल्कि पूरे उपमहाद्वीप में विस्थापित, विचलित और विभाजित करना' बताया.

सुभाष गाताडे ने स्पेन के गृहयुद्ध में फ्रांको की तानाशाही के खिलाफ लेखकों के सक्रिय प्रतिरोध की याद दिलाते हुए बताया कि इतिहास में ऐसे मौके आते हैं, जब अपनी अंतरात्मा की आवाज की अनसुनी न कर सकने वाले लेखकों को सड़क पर चल रही लड़ाई में शरीक होने के लिए उतरना पड़ता है और आज हमारे देश में ऐसा ही मौका आन पड़ा है.

गांधीवादी कर्मकर्ता हिमांशु कुमार की दोटूक राय थी कि दिल्ली की हालिया हिंसा के सीधे निशाने पर वे मुसलमान औरतें थीं, जिन्होंने देश भर में शाहीन बाग के सत्याग्रह खड़े कर मुसलमानों के खिलाफ चलाए गए उस मिथ्या-प्रचार की हवा निकाल दी थी कि मुसलमान दूसरों की तुलना में धार्मिक दृष्टि से अधिक कट्टर और रूढ़िवादी होते हैं.

सम्मेलन में प्रतिभागी लेखकों ने एक स्वर से नागरिकता संशोधन कानून को संविधान विरोधी बताया. उन्होंने कहा कि यह कानून और इसके साथ एनआरसी और एनपीआर का मूल मकसद देश मे सांप्रदायिक ध्रुवीकरण को तेज करते हुए फासीवाद कायम करना है.

वक्ताओं ने दिल्ली में हुए सांप्रदायिक हिंसा की घटनाओं पर गहरी चिंता व्यक्त की. उन्होंने कहा कि इसे दंगा नहीं कहा जाना चाहिए, इसमें पुलिस के साथ बहुसंख्यक सांप्रदायिक गुंडों की हिंसा से भविष्य की बहुत ही चिंताजनक तस्वीर उभरती है.

11 बजे से 4.30 तक चले इस प्रतिरोध सम्मेलन में वक्ताओं के रूप में अरुंधति राय, सुभाष गाताडे, शुभा, विष्णु नागर, मंगलेश डबराल, टिकेंद्र पवार, हिमांशु कुमार, डी रघुनन्दन, संजय काक, भंवर मेघवंशी, बद्री रैना, जगदीश पंकज, हीरालाल राजस्थानी, लाल रत्नाकर आदि ने शिरकत की. के सच्चिदानंदन , मंगलेश डबराल, अशोक वाजपेयी, गौहर रजा,ममता नागर, अनीता थम्पी, सलमा , मृत्युंजय, और अदनान कफील दरवेश की कविताओं ने इस सम्मेलन को भावात्मक समृद्धि प्रदान की.

डूटा की पूर्व अध्यक्षा नंदिता नारायण द्वारा फैज की नज्म 'हम देखेंगे' के गायन से कार्यक्रम की शुरुआत हुई. नसीरुद्दीन शाह और रत्ना पाठक शाह ने सम्मेलन के लिए अपने वीडियो संदेश भेजे, जिन्हें मंच से प्रसारित किया गया. आशुतोष कुमार और संजीव कुमार ने मंच संचालन किया. भागीदार संगठनों द्वारा तैयार 'जंतर मंतर घोषणापत्र' को पेश और पारित करने के साथ प्रतिरोध सम्मेलन समाप्त हुआ.

जंतर-मंतर घोषणापत्र में सम्मेलन ने पारित नागरिकता संशोधन

कानून, राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर के नए प्रारूप और प्रस्तावित राष्ट्रीय नागरिकता रजिस्टर के खिलाफ देशभर में चल रहे नागरिक आंदोलनों के साथ एकजुटता जाहिर की गयी. इस घोषणा में कहा गया है कि ये प्रस्ताव सर्वमान्य लोकतांत्रिक मूल्यों के विरुद्ध हैं. ये भारतीय संविधान के बुनियादी सिद्धांतों का भी अवमूल्यन करते हैं.

वक्ताओं के अलावा भी बड़ी संख्या में नामचीन लेखक-कलाकार इस सम्मेलन में भागीदार हुए. कुछ नाम इस प्रकार हैं : असग़र वजाहत, अली जावेद, नरेश सक्सेना, रामजी राय, रेखा अवस्थी, मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, चंचल चौहान, रमेश उपाध्याय, शिवमंगल सिद्धांतकार, मनोज कुलकर्णी, सविता सिंह, आभा देव हबीब, प्रबीर पुरकायस्थ, मुकुल प्रियदर्शिनी, प्रज्ञा रोहिणी, प्रियम अंकित, प्रियदर्शन, मृदुला गर्ग, गीतांजलि श्री, सुधीर चंद्र, निर्मला गर्ग, रामायन राम, अनिल यादव, मनोज कुमार सिंह, बादल सरोज, गीता हरिहरन, इब्बार रब्बी, देवी प्रसाद मिश्र, हेम ज्योतिका, जवरीमल्ल पारख, संजय जोशी, प्रेम शंकर, उमाकांत चौबे, दिलीप कठेरिया, रमेश भंगी, मुकेशमानस, रजनी अनुरागी, जावेद आलम खान, सुनीता राजस्थानी, हरपाल भारती, पुष्पा विवेक, धीरज सिंह, कौशल सोनकरिया, हरिमोहन शर्मा, गोपेश्वर सिंह, बली सिंह, रेणु प्रधान, संजीव कौशल, प्रवीण कुमार, राकेश तिवारी, द्विजेंद्र कालिया, बालेंदु परसाई, माला हाशमी, मनमोहन, अजेय कुमार, सुधन्वा देशपांडे, मदन कश्यप, संजय कुंदन, राजेन्द्र शर्मा, काजल घोष, बाल मुकुंद, सुजाता, रचना यादव, नन्द किशोर नंदन, कल्पना उप्रेती, रवि सिन्हा, संदीप मील, भाषा सिंह, फरहत नकवी इत्यादि.

प्रस्तुति : आशुतोष कुमार

आधे–अधूरे की प्रस्तुति

प्रयास संस्था, पटना के 8वें राष्ट्रीय प्रयास नाट्य मेला 2020 में 17 फरवरी को महाराष्ट्र की संस्था मंच नाटक ने मोहन राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' का मंचन किया.

विजय कुमार निर्देशित इस नाट्य प्रस्तुति अभिनय के अलावा बाकी अन्य चीजों का प्रतीकात्मक और बिंबात्मक प्रयोग करती है और अभिनय में भी उतने ही भाव-भंगिमा और उतार-चढ़ाव का प्रयोग करती है जितने में कि बतकही और अनकही की बीच प्रतिबिंबित हो. 'आधे-अधूरे' का यह मंचन भी कई स्थानों पर इस प्रसिद्ध नाटक की नवीन व्याख्या प्रस्तुत करता है. ऐसा करते हुए यह लेखक और नाटक की विश्वप्रसिद्ध से अपने को स्वच्छंद भी रखती है.

प्रस्तुति : पुंज प्रकाश

कविता पाठ व प्रवासी साहित्य चर्चा

जमशेदपुर, सीतारामडेरा में 'सृजन संवाद' की मासिक गोष्ठी के पहले खंड में विनीता परमार ने अपनी कुछ कविताओं का पाठ किया. श्रोताओं को उनकी कविताओं के बिंबों ने आकर्षित किया. कविताओं में प्रच्छन्न व्यंग्य की भी श्रोताओं ने सराहना की गई.

गोष्ठी के दूसरे खंड में ऋतु शुक्ल ने अंग्रेजी प्रवासी साहित्य, उसमें भी खास तौर पर झुम्पा लाहिरी तथा किरण देसाई दो स्थापित प्रवासी रचनाकारों पर अपनी बात रखी. उन्होंने दोनों लेखिकाओं के लेखन की समानाताओं तथा भिन्नताओं का विस्तार से उल्लेख करते हुए इन दोनों के केवल उपन्यासों पर चर्चा की. दोनों के अनुभव भिन्न हैं अतः दोनों की लेखन शैली भी भिन्न है. झुम्पा लाहिरी का लेखन बहुत गंभीर है, उनके यहाँ संवाद के वक्त भी ऐसा लगता है मानो पात्र गंभीर चिंतन-मनन में व्यस्त हैं. किरण देसाई में गंभीर बातों को भी हास्य के रूप में प्रकट करने की कला है. देसाई अपने उपन्यास 'हल्लाबलू इन द ग्वावा ऑर्चर्ड' में इसका खूब प्रयोग करती हैं. परिमार्जित भाषा का प्रयोग करती हुई लाहिरी 'स्ट्रीम ऑफ कॉन्शियसनेस तकनीकि का प्रयोग करती हैं. लाहिरी के लेखन में प्रवासी होने का दर्द उनके लेखन का हिस्सा बन गया है और देसाई ने उस दर्द और पीड़ा को हास्य का जामा पहना दिया है. उन्होंने दोनों उपन्यासकारों के विषय में इतने रोचक तरीके से बताया कि जिन्होंने इन रचनाकारों को नहीं पढ़ा है, उनमें भी इन्हें पढ़ने की ललक जाग गई.

गोष्ठी में विनीता परमार, वैभवमणि त्रिपाठी, ऋतु शुक्ल, रुचिका तिवारी, तरुण कुमार, अर्पणा संतसिंह तथा विजय शर्मा उपस्थित थी. विजय शर्मा ने संगोष्ठी का संचालन किया.

प्रस्तुति : विजय शर्मा

अनुवाद विमर्श पर कार्यक्रम

म. प्र. हिंदी साहित्य सम्मेलन द्वारा 'भारतीय भाषाओं से हिंदी में अनुवाद की आवश्यकता और चुनौतियां' पर केंद्रित दो दिवसीय अनुवाद विमर्श कार्यक्रम का सफल आयोजन किया गया. यह आयोजन अनुवाद पर विमर्श के साथ-साथ अनुवाद की प्रतिष्ठा की पुनर्स्थापना के प्रयास के तौर पर अधिक महत्वपूर्ण है.

आयोजन के प्रथम सत्र में–कुलजीत सिंह, अनवारे इस्लाम, सुभाष नीरव, रश्मि रामानी, मीता दास, संध्या कुलकर्णी, अशोक मनवानी, सुनीता डागा, उत्पल बनर्जी, सारिका ठाकुर, संतोष एलेक्स, बलवंत जेउरकर, मालिनी गौतम, भरत यादव द्वारा अनुवाद पर विमर्श के तहत विविध भारतीय भाषाओं की आपसी आवाजाही, अनुवाद की आवश्यकता, सीमाओं तथा चुनौतियों पर गहन चर्चा की गई. कार्यक्रम का संचालन वरिष्ठ कवि एवं अनुवादक मणि मोहन मेहता द्वारा किया गया.

द्वितीय सत्र में मणि मोहन के कविता संकलन 'भेड़ियों ने कहा शुभरात्रि' के मराठी अनुवाद 'बीजाची प्रार्थना' का लोकार्पण किया गया. इस अवसर पर अनुवादक भरत यादव एवं लोकायत प्रकाशन के राकेश सालुंके भी उपस्थित थे. इस सत्र में प्रतिभागी अनुवादकों एवं रचनाकारों द्वारा अपनी अनूदित रचनाओं का पाठ किया गया. सत्र का संचालन कन्नड अनुवादक एवं संध्या कुलकर्णी ने किया.

समापन उद्‌बोधन में सम्मेलन के अध्यक्ष श्री पलाश सुरजन द्वारा अनुवाद को मूल रचनाकर्म से कमतर मानने की मानसिकता में परिवर्तन की आवश्यकता को रेखांकित किया गया.

प्रस्तुति : रक्षा चौबे

पुस्तक का लोकार्पण

'समकालीन गजल और विनय मिश्र' पुस्तक के लोकार्पण समारोह के मुख्य अतिथि वरिष्ठ कवि आलोचक श्रीधर मिश्र ने वक्तव्य दिया कि विनय मिश्र की गजलों में सामाजिकता का संदर्भ ऐतिहासिक नवीनता की परिधि तक है.

विशिष्ट अतिथि के रूप में वक्तव्य देते हुए जामिया मिलिया वि.वि., कवि आलोचक रहमान मुस्विर ने कहा कि हिंदी गजल अपने सरोकारों और अपनी भाषा की खुशबू के साथ अपनी उपस्थिति को मजबूती से दर्ज करा रही है और विनय मिश्र की गजलें अपने परिदृश्य और यथार्थ बोध को पूरे आबोताब के साथ कहती हैं इसीलिए वे हिंदी कविता परंपरा में लिखी जा रही गजलों के एक प्रतिनिधि कवि हैं. विशिष्ट अतिथि आलोचक दिनेश कुमार ने कहा कि लोकप्रियता और साहित्यिकता में छायावाद के बाद एक सतही और कृत्रिम विभाजन होता गया है जिसके कारण जनसंवादी और जनप्रिय विधा होते हुए भी गजल गीत दोहा आदि छांदस विधाओं को लोकप्रिय कविता कहकर खारिज करने कोशिश की गई है. इस पुस्तक के संपादक और युवा आलोचक लवलेश दत्त ने इस किताब की रचना प्रक्रिया मे आई कठिनाइयों और हिंदी गजल की प्रासंगिक चुनौतियों का उल्लेख किया. इस अवसर पर किराना घराने की मशहूर गायिका हितु मिश्रा ने विनय मिश्र की गजलों का गायन प्रस्तुत किया.

लोकार्पण समारोह के दूसरे सत्र यानी विमर्श सत्र के विषय प्रवर्तक प्रोफेसर जे पी व्यास ने कहा कि विनय मिश्र की गजलें अपने अतीत से संवाद करते हुए अपने वर्तमान को रेखांकित करती हैं. इस अवसर पर विनय मिश्र ने हिंदी कविता परंपरा में गजल पर अपनी बात रखते हुए अपनी गजलों का पाठ किया. इस अवसर पर देश भर से आए हुए रचनाकर्मी और शहर के वरिष्ठ एवं युवा कवि लेखक समाजकर्मी और रंगकर्मी उपस्थित रहे.

प्रस्तुति : रामचरण राग

व्यंग्य रचनाओं एवं कविता केंद्रित कार्यक्रम

23 फरवरी को जोधपुर कॉमरेड अशरफ फौजदार स्वतंत्रता सेनानी मेमोरियल ट्रस्ट द्वारा आयोजित कार्यक्रम 'शैलेन्द्र ढड्ढा का रचना संसार : एक पाठ' डॉ. मदन डागा साहित्य भवन में आयोजित किया गया. कार्यक्रम के मुख्य अतिथि कहानीकार और चिंतक हरी प्रकाश राठी और आईदानसिंह भाटी ने प्रारंभ में सरस्वती के चित्र पर माल्यार्पण किया. शैलेन्द्र ने पहले अपनी व्यंग्य रचना का पाठ किया तत्पश्चात अनेक कविताओं का वाचन किया. मुख्य अतिथि हरिप्रकाश राठी ने कहा कि शैलेंद्र का चिंतन बहुआयामी है. अध्यक्ष आईदान सिंह भाटी ने शैलेंद्र की कविताओं के चुनाव की प्रशंसा करते हुए कविता में विचार के महत्व को प्रतिपादित किया. कार्यक्रम में अनेक गणमान्य साहित्यकार और रंगकर्मी उपस्थित थे यथा—हरिदास व्यास, फतेह सिंह भाटी, पद्‌मजा शर्मा, रेणु वर्मा, नीना छिब्बर, रेणुका श्रीवास्तव, मनोहरसिंह राठौर, श्याम गुप्ता शांत, कल्याण विश्नोई, डॉ. निसार राही, दशरथ सोलंकी, कमलेश तिवारी, प्रमोद वैष्णव, नवीन पंछी, पूर्ण दत्त जोशी, नफासत अली, रजा मोहम्मद, इशराकुल इस्लाम माहिर, नितेश व्यास, फानी जोधपुरी, रतन सिंह चंपावत, कौशल्या अग्रवाल, नकुल दवे.

प्रारम्भ में शायर अशफाक अहमद फौजदार ने अपने मरहूम वालिद कॉमरेड अशरफ फौजदार के संस्मरण सुनाए. कमलेश तिवारी ने धन्यवाद ज्ञापन किया. कार्यक्रम का संचालन चन्द्रभान विश्नोई द्वारा किया गया.

प्रस्तुति : शैलेन्द्र ढड्ढा

विशेषांक का लोकार्पण

यू.पी. प्रेस क्लब, लखनऊ में गीतकार राजेन्द्र राजन पर केंद्रित हिंदी त्रैमासिक 'शीतलवाणी' का उ.प्र. हिंदी संस्थान के कार्यकारी अध्यक्ष प्रो. सदानंद गुप्त तथा उ.प्र. हिंदी संस्थान के निर्वतमान कार्यकारी अध्यक्ष उदय प्रताप सिंह तथा आर. पी. शुक्ल ने लोकार्पण किया. लोकार्पण में गीतकार राजेन्द्र राजन, शीतलवाणी के संपादक वीरेन्द्र आजम भी मौजूद रहे.

मुख्य अतिथि प्रो. सदानंद गुप्त ने इस अवसर पर कहा कि राजेन्द्र राजन की रचनाओं से गुजरना संवेदनाओं की घनी अनुभूतियों का अहसास है, उनके गीतों में सहजता है. समारोह अध्यक्ष उदय प्रताप सिंह ने कहा कि गीत की जो धारा भारत भूषण और किशन सरोज से होकर जाती है राजन उसी धारा के गीतकार है. साहित्यकार आर. पी. शुक्ल ने कहा कि राजन की कविताओं में प्रेम ही नहीं सामाजिक सरोकार भी है.

संपादक वीरेन्द्र आजम ने राजेन्द्र राजन की रचनाधर्मिता पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए कहा कि राजेन्द्र राजन की रचनाओं से गुजरना यथार्थ के गलियारे से होकर गुजरना है. उनकी रचनाएं समय सापेक्ष और समाज सापेक्ष हैं. राजेन्द्र राजन ने इस अवसर पर कई शेर और गीत भी सुनाए. समारोह में वरिष्ठ साहित्यकार बंधु कुशावर्ती, कथाकार रामनगीना मौर्य, गीतकार श्रीमती संध्या सिंह, विभा मिश्रा, गीतकार सर्वेश अस्थाना, अभय निर्भीक, मोहित संगम, क्षितिज कुमार, सुभाष रसिया, अलका वाजपेयी, रेनू द्विवेदी व चंद्रेश शेखर आदि भी मौजूद रहे. संचालन श्वेता ने किया.

प्रस्तुति : सदानंद पॉल

सदस्यता प्रपत्र

मूल्य : रु. 40/- प्रति

व्यक्तिगत सदस्यता–देश

(अ) वार्षिक : रु. 400/- साधारण डाक द्वारा
रु. 700/- रजिस्टर्ड डाक द्वारा
(ब) आजीवन : रु. 10000/- साधारण डाक द्वारा
रु. 17000/- रजिस्टर्ड डाक द्वारा

व्यक्तिगत सदस्यता–विदेश

(अ) वार्षिक : रु. 4000/- (समतुल्य स्थानीय मुद्रा) साधारण डाक द्वारा
(ब) आजीवन : फिलहाल उपलब्ध नहीं

संस्थागत सदस्यता–देश

(अ) वार्षिक : रु. 600/- साधारण डाक द्वारा
रु. 900/- रजिस्टर्ड डाक द्वारा
(ब) आजीवन : रु. 15000/- साधारण डाक द्वारा
रु. 22000/- रजिस्टर्ड डाक द्वारा

संस्थागत सदस्यता–विदेश

(अ) वार्षिक : रु. 6000/- (समतुल्य स्थानीय मुद्रा) हवाई डाक द्वारा

व्यक्तिगत ☐ **संस्थागत** ☐ **देश** ☐ **विदेश** ☐

नाम : ....
पता : ....
शहर..................................**राज्य**...............................**देश**.........................**पिन**.................................
दूरभाष...**मो.** ....
ईमेल ....**वेबसाइट**...

सदस्यता अवधि

1 वर्ष ☐ **2 वर्ष** ☐ **3 वर्ष** ☐ **4 वर्ष** ☐ **5 वर्ष** ☐ **आजीवन** ☐

PAYMENT METHOD
Online Transaction : **Vijaya Bank,** Ansari Road
C/A : 601700300001362, **IFSC Code :** VIJB0006017, **SWIFT No. :** VIJBINBBRFC
Cheque/Draft : In Favour of **Akshar Prakashan Pvt. Ltd.**

मनीऑर्डर/चैक निम्नलिखित पते पर भेजें :
अक्षर प्रकाशन प्रा.लि. 2/36, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
दूरभाष : 011-23270377, 41050047
ईमेल : editorhans@gmail.com वेबसाइट : www.hanshindimagazine.in

हमारी किताबें ऑनलाइन देखें www.radhapublications.com

विविध

कामकाजी हिंदी/डॉ. अनुज प्रताप सिंह 550
योग एवं अध्यात्म दर्शन/ सी.पी.सक्सेना 350
दलितों का इतिहास/ डॉ. मुकेश भूषण 750
दलित आन्दोलन और सामाजिक न्याय डॉ. दीप्ति गुप्ता 450
मेरे सपनों का भारत/महात्मा गांधी 450
सभी धर्म हैं अपने/सी.पी. सक्सेना 250
भारत में आतंकवाद/आर.बी. सिंह 750
दक्षिण एशिया में आतंकवाद/ डॉ. अल्का गोयल 595
पश्चिमी भारत की यात्रा/जेम्स टॉड अनुवादक श्री केशवकुमार ठाकुर 750
यक्षों की भारत को देन/अरूण 450
•ऋग्वेद असुर और आर्य 750
•भारत की जातियां उद्भव एवं विकास (दो भागों में) 1750
• हिन्दू संस्कृति के बारह सच डॉ.एस.एल. निर्मोही 550
बौद्ध समाज दर्शन/ डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शाक्य 450
महिला सशक्तिकरण के नवीन आयाम सं. डॉ. इन्दु शर्मा 495
• स्वतंत्रता के ज्योतिपुंज 395
• 1857 का मुक्ति-संग्राम भ्रम, भ्रान्तियां और सत्य 895 डॉ. धर्मेन्द्र नाथ
•अकबरनामा (2 खण्डों में) 1250
•तुजुक-ए-बाबरी 300
•तुजुक-ए-जहांगीरी 450 मथुरालाल शर्मा (अुन.)

बाबरनामा (सम्राट बाबर की आत्मकथा)/ रूपान्तरकार : श्री केशव कुमार ठाकुर 1595
गोस्वामी तुलसीदास/श्याम सुन्दरदास 300
भारतीय पुरा-इतिहास कोश/ अरुण (दो भागों में) 1150
राजभाषा विमर्श/वीरेन्द परमार 250
श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र/लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक 750

उपन्यास

मैं जोहिला/प्रतिभू बनर्जी 300
तीन लफ्ज़/गिरिजा भारती 350
युगपरिधि (श्री कृष्णपुत्र प्रद्युम्न पर आधारित उपन्यास)/चन्द्रा चतुर्वेदी 650
अभयदान/जगदीश चंद्र कन्नौजिया 350
मारिया/देवेश ठाकुर 395
व्यक्तिगत/देवेश ठाकुर 495
आहट नई सदी की/ डॉ. सुरेश प्रकाश शुक्ल 495
नयी किरण (वैधव्य से राजनीति के शिखर तक का सफर)/ शत्रुघ्न सिंह 'अनाम' 450
सागर-तट की वह सीप/उषा यादव 395
अंजुरी भर चांदनी/उषा यादव 350
कितने अभिमन्यु?/योगेन्द्र शर्मा 350
ए.बी.सी.डी..../व्योमकेश त्रिवेदी 750

कहानी

मनसतरंगी/कामना सिंह 495
मां (मां पर चयनित लघु कथा संग्रह)/ निर्मला सिंह 300
ये लम्हे वे लम्हे/सुधा गोयल 300
देह-गंध/प्रेरणा ठाकरे 300
देश-विदेश की लोक कथाएं/ ओम प्रकाश सोंधी 300
अंतिम राय का सच/त्रिलोक मेहरा 250
सज़ा (नारी हृदय को स्पर्श करती 25 कहानियां)/डॉ. संगीता बलवन्त 250
महानगर की श्रेष्ठ कहानियां/ कमलेश बख़्शी 650
गुजराती कथा वैभव/ सं. क्रांति कनाटे 350
सूर्यदीन यादव स्त्री पक्षधरता की कहानियां/ सं. डॉ. ललिता यादव, 450
ज़िन्दगी तेरे कितने रंग/ सूर्य नारायण सिंह 300

नाटक

वीरांगना रानी दुर्गावती (धारावाहिक सम्पूर्ण रेडियो नाटक)/दिनेश मिश्र 595
बेटी की पुकार (छात्रों के मंचीय नाटक)/ डॉ. अनिल कुमार 'आनंद' 295
मेरी नाट्य रचनाएं/कृष्णचन्द्र लाल 400
कर्तव्य रामायण के पात्र/ डॉ. सीता बिम्बॉ 200
संस्कृति-पथ-कथा : रामकथा सम्पूर्ण रामायण/डॉ. सीता बिम्बॉ 300

हास्य-व्यंग्य

अजनबी चेहरों की भीड़ में/ माधवेश कर्ण 350
नौ सौ चूहे खाय..../सुधा गोयल 300
उत्तम आलसी का सहज योग/ डॉ. अमलदार 'नीहार' 350
ठिठोली/मनोज जानी 200
ततैया/विद्याभूषण भारद्वाज 200
एक अनार सौ बीमार/भगवान वैद्य 200
उम्मीदों के उल्लू/घनश्याम सक्सेना 250

राधा पब्लिकेशन्स
4231/1 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
www.radhapublications.com

बीसवीं सदी की महिला कथाकारों की कहानियां
संपादक सुरेन्द्र तिवारी (दस खण्डों में)
260 महिलाओं की चुनी हुई कहानियां 4200

नमन प्रकाशन
कृपया सूची पत्र मंगवाने के लिए व्हाट्सएप करे
• पुस्तक वी.पी. द्वारा मंगवाएं.

सम्पर्क करें नितिन गर्ग : 9350551515 8595352540 E-mail:radhapublications@rediffmail.com